मानस पीयूष

(भाग- एक).

श्रीगुरवे नमः

इस भागमें आये हुए प्रकरणोंकी सूची

प्रथम भागके संकेताक्षरोंकी तालिका

संकेताक्षर	विवरण
अ०	अयोध्याकाण्ड, अध्याय
अ० मं०	अलङ्कारमञ्जूषा; अयोध्याकाण्डका मङ्गलाचरण
अ० २०५	अयोध्याकाण्डका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
२. २०५	अयोध्याकाण्डका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
अ० दी०	मानस-अभिप्रायदीपक
अ० दी० च०	मानस-अभिप्रायदीपकचक्षु (श्री-जानकीशरणजी)
अ० रा०	अध्यात्मरामायण
अमर	श्रीअमरसिंहकृत 'अमरकोश'
अलङ्कार-मं०	लाला भगवानदीनजीरचित 'अलङ्कारमञ्जूषा'
आ० रा०	आनन्दरामायण
अ०	अरण्यकाण्ड
अ० २. / ३. २.	अरण्यकाण्डका दूसरा दोहा या उसकी चौपाई
आज	इस नामका एक दैनिक पत्र
उ०	उत्तरकाण्ड; उत्तरखण्ड (पुराणों-का); उत्तरार्ध, उपनिषद् (प्रसंगानुकूल लगा लें)।
उ० ११५, / ७. ११५	उत्तरकाण्डका दोहा ११५ या उसकी चौपाई
क०	कवितावली
क० ७	कवितावलीका उत्तरकाण्ड
कल्याण	गीताप्रेस, गोरखपुरका मासिक पत्र
करु० / श्रीकरुणासिंधुजी	महन्त श्री १०८ रामचरणदासजी महाराज करुणासिंधुजीकी 'आनन्दलहरी' टीका जो सं० १८७८ में रची गयी और नवल-किशोरप्रेससे बैजनाथजीकी टीका-से पहले प्रकाशित हुई।
कठ (कठोप०) १.२.२०	कठोपनिषद् प्रथम अध्याय द्वितीय वल्ली श्रुति २०
का०, १७०४	काशिराजके यहाँकी सं० १७०४ की लिखी पोथी
काष्ठजिह्वस्वामी	रामायणपरिचर्याकार श्रीदेवतीर्थ-स्वामीजी
कि०	किष्किन्धाकाण्ड
कि० मं०	किष्किन्धाकाण्ड मङ्गलाचरण
केन० ३.१२	केनोपनिषद् तृतीय खण्ड श्रुति१२
को० रा०	कोदोरामजीका गुटका
खर्रा	पं० रामकुमारजीके प्रथमावस्थाके

संकेताक्षर	विवरण
	लिखे हुए टिप्पण
गणपति उपाध्याय	उनकी मानसतत्त्वप्रकाश-शंकावली
गी०	गीतावली
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गौड़जी,	प्रोफेसर श्रीरामदास गौड़, एम्० एस्० सी० (स्वर्गीय)
(श्री) चक्रजी	महात्मा श्रीसुदर्शनसिंहजी (श्री-चक्र), सम्पादक 'सङ्कीर्तन', 'मानसमणि'
चौ०	चौपाई (अर्धाली)
छ०	लाला छक्कनलालजीकी पोथी
छां० ३.१३.७.	छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३ खण्ड १३ श्रुति ७
जाबालो०	जाबालोपनिषद्
टिप्पणी	पं० श्रीरामकुमारजीके हस्तलिखित कथाके लिये तैयार किये हुए टिप्पण जो स्वर्गीय पुरुषोत्तमदत्त-जी (श्रीरामनगरलीलाके व्यास) से प्राप्त हुए।
तु० प०	तुलसीपत्र मासिक पत्रिका जो सं० १९७७ तक महात्मा श्रीबालकराम विनायकजीके सम्पादकत्वमें श्री-अयोध्याजीसे निकली और फिर मानस-पीयूषमें सम्मिलित हो गयी
तैत्ति० (तै०) २.४	तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनुवाक ४
तैत्ति० शिक्षोप०	तैत्तिरीय शिक्षोपनिषद्
द्विवेदीजी	महामहोपाध्याय श्रीसुधाकर द्विवेदीजी
दीनजी	लाला श्रीभगवानदीन साहित्यज्ञ हिंदीके लेकचरार, हिंदूविश्व-विद्यालय, काशी, जिनकी 'भक्ति भवानी' 'श्रीरामचरणचिह्न' और 'अलङ्कारमञ्जूषा' आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और जो ना० प्र० सभा-के एक मुख्य सदस्य थे।
दो०	दोहा; दोहावली
दो० १५९	दोहावलीका १५९वाँ दोहा

संकेताक्षर	विवरण
नं० प०, (श्री) नंगे परमहंसजी	बाबा श्रीअवधविहारीदासजी, बाँधगुफा, प्रयाग
ना०प्र०स०, ना०प्र०	नागरीप्रचारिणीसभाका मूल पाठ

नोट—इससे पं० रामकुमारजीके अतिरिक्त अन्य महानुभावोंके विशेष भाव तथा संपादकीय विचार सूचित किये गये हैं। जो भाव जिस महानुभावके हैं उनका नाम कोष्ठकमें दे दिया गया है। जहाँ किसीका नाम नहीं है वह प्राय: संपादकीय टिप्पण हैं।

संकेताक्षर	विवरण
पं० पंजाबीजी	श्रीसंतसिंह पंजाबीजीके 'भाव-प्रकाश' टीकाके भाव। यह टीका भी १८७८ वि० में तैयार हुई और सन् १९०१ में प्रकाशित हुई।
प० पु०	पद्मपुराण
प० पु० उ०	पद्मपुराण उत्तरखण्ड
पां०, पाँड़ेजी	मुं० रोशनलालकी टीका जिसमें पं० श्रीरामबख्श पांडेजी रामायणीके भाव हैं।
पां० गी०	पाण्डवगीता
पा०	पाणिनिव्याकरण
पू०	पूर्वार्ध; पूर्व
प्र०सं० (मा०पी०	मानसपीयूष प्रथम संस्करण
प्र० सं०)	प्रेम-संदेश एक मासिक पत्रिका
बा० ३; १.३	बालकाण्डका दोहा ३ या उसकी चौपाई
बाहुक	श्रीहनुमानबाहुक
वि०, विनय	विनयपत्रिकाका पद
वै० सं०, वैराग्यसं०	वैराग्यसंदीपिनी
व्यासजी	पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्री-जानकीघाट; श्रीअयोध्याजी)
ब्रह्मवै० पु०	ब्रह्मवैवर्तपुराण
भक्तमाल	श्रीनाभास्वामीरचित भक्तमाल
भट्टजी	पं० रामेश्वरभट्टजीकी टीका
भगवद्गुणदर्पण—भ० गु० द०	वैजनाथजीकी टीकामें भगवद्-गुणदर्पण ग्रन्थके उद्धृत श्लोक
श्रीभगवद्गुणदर्पण भाष्य	श्रीविष्णुसहस्रनामपर श्रीभगवद्-गुणदर्पणभाष्य
भा० दा०	श्रीभागवतदासजीकी पोथी

संकेताक्षर	विवरण
भा० स्क०	श्रीमद्भागवत स्कन्ध
भक्तिरसबोधिनी-टीका	श्रीप्रियादासजीकृत गोस्वामी श्रीनाभाजीकृत भक्तमालकी टीका कवित्तोंमें
मं०	मङ्गलाचरण
मं० श्लो०	मङ्गलाचरणका श्लोक
मं० सो०	मङ्गलाचरणका सोरठा
मनु०	मनुस्मृति
महारा०	महारामायणके अध्याय और श्लोक
महाभा०	महाभारत
महाभा० शां० प०	महाभारत शान्तिपर्व
(डॉक्टर) माताप्रसाद गुप्त	उनकी रची हुई 'तुलसीदास' नामक पुस्तक
मा० अ० दी०	मानस-अभिप्रायदीपक
मा० त० वि०	संत उन्मनी श्रीगुरुसहायलालजीकी बालकाण्डकी टीका
मानसदीपिका	काशीजीके बाबा रघुनाथदास-(रामसनेही-) कृत टीका
मा० प० मा० पत्रिका	"मानसपत्रिका" (महामहोपाध्याय श्रीसुधाकर द्विवेदीजी तथा साहित्योपाध्याय श्रीसूर्यप्रसाद मिश्र-द्वारा सम्पादित मासिक पत्रिका जो काशीजीसे लगभग सं०१९७० तक निकली)
मानस-प्रसंग मा० प्रसंग	मानसराजहंस श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी-(काशी-)की रचित मानस-प्रकरणकी टीका।
मा० प्र०	बाबा श्रीजानकीदासजी महाराज, श्रीअयोध्याजीकी प्रसिद्ध बालकाण्डके आदिके ४३ दोहोंकी टीका 'मानसपरिचारिका'। बाबा माधोदासजी इन्हींके शिष्य थे। श्रीअयोध्याजीके रामायणियोंकी परम्परा इन्हींसे चली।
मानसमणि	एक मासिक पत्रिका जो 'रामवन' जिला सतनासे निकलती है।
मा० म०	पं० श्रीशिवलाल पाठकजीविरचित 'मानसमयंक' की बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंहजीकृत टीका और मूल।

संकेताक्षर	विवरण
मा० मा०	बाबा श्रीजानकीशरण-(स्नेहलता-)जीकृत मानसमार्तण्ड नामक बालकाण्डके प्रथम ४३ दोहोंका तिलक जो दस-बारह वर्ष हुए छपा था।
मानसरहस्य	यह अलंकारोंकी एक छोटी पुस्तिका थी।
मानसाङ्क	गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित मानसका प्रथम संस्करण (टीका-सहित) जो विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित हुआ था।
मा० शं०	श्रीमन्मानसशंकावली
मा० स०, मा० सं०	मानसपीयूषका सम्पादक
मार्क० पु०	मार्कण्डेयपुराण
मिश्रजी	पं० सूर्यप्रसाद मिश्रजी साहित्योपाध्याय
मुक्तिको०	मुक्तिकोपनिषद्
मुण्डक० १.२.१२	मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, द्वादश श्रुति
यजु०३१.१९.१	यजुर्वेदसंहिता अध्याय ३१ कण्डिका १९ मन्त्र १
(पं०) रा० गु० द्वि०	मिरजापुरनिवासी साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी पं० श्रीरामगुलामजी द्विवेदी। इनके द्वारा संशोधित बारह ग्रन्थोंके गुटकाके संस्करणोंमें-से सं० १९४५ में काशीके छपे हुए गुटका तथा मानसी बन्दन पाठकजीकी हस्तलिखित प्रतिलिपिमें दिया हुआ पाठ जो पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीके यहाँ है।
(पं०)रा०चं०शुक्ल	पं० श्रीरामचन्द्र शुक्ल, प्रोफेसर काशीहिन्दूविश्वविद्यालय
रा० ता०	श्रीरामतापनीयोपनिषद्
रा० उ० ता०	श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्
रा० ता० भाष्य	बाबा श्रीहरिदासाचार्यजी, श्रीजानकीघाट, श्रीअयोध्याजीका श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर भाष्य
पं० रामवल्लभाशरणजी, पं० रा० व० श०	श्रीजानकीघाटनिवासी पण्डितजी जो श्रीमणिरामजीकी छावनीके व्यास थे।

संकेताक्षर	विवरण
रा० बा० दा०, रामायणीजी	बाबा रघुनाथदासजीकी छावनी, श्रीअयोध्याजीके रामायणी श्रीरामबालकदासजी (साकेतवासी)
रा० प०	'रामायणपरिचर्या' टीका (श्रीकाष्ठजिह्वदेवतीर्थ स्वामीकृत सं० १९५५ की छपी)
रा० प० प०	काशीनरेश श्रीईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजीकृत 'रामायणपरिचर्या-परिशिष्ट' सं० १९५५ की छपी।
रा० प्र०	श्रीसीतारामीय बाबा हरिहरप्रसादजीकृत 'रामायणपरिचर्या परिशिष्टप्रकाश' सं० १९५५ का छपा।
रा० पू० ता०	श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्
रा० प्र० श०	बाबा रामप्रसादशरणजी (दीन), मानसप्रचारक, साकेतवासी
(वे०शि०)श्री रामानुजाचार्यजी	श्रीवृन्दावन हरिदेवमन्दिरके सुप्रसिद्ध वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज।
श्रीरूपकलाजी	वैष्णवरत्न अखिलभारतीय श्रीहरिनामयश-संकीर्त्तन-सम्मेलन तथा श्रीप्रेमाभक्ति-सम्मेलनके प्रवर्तक, संचालक तथा श्रीनाभास्वामीरचित भक्तमाल और भक्तिरसबोधिनी टीकाके प्रसिद्ध तिलककार साकेतवासी अनन्तश्री सीतारामशरण भगवानप्रसादजी (श्रीरूपकलाजी), श्रीअयोध्याजी।
(पां० मुं०) रोशनलाल	प्रयागनिवासी श्रीरामबख्श पांडेजीके भाव जो मुं० रोशनलालजीने लिखकर छपाये
लं० १०३,७.१०३	लङ्काकाण्डका दोहा १०३ या उसकी चौपाई
लिं० पु० पू०	लिङ्गपुराण पूर्वार्ध
वाल्मी०	वाल्मीकीय रामायण
वि०, विनय	विनयपत्रिकाका पद
श्रीबिन्दुजी	ब्रह्मचारी संत श्रीबिन्दुजी(साकेतवासी), सम्पादक 'कथामुखी', श्रीअयोध्याजी।
वि० टी०	श्रीविनायकराव कवि 'नायक' पेन्शनर जबलपुर विरचित 'विनायकी टीका' सं० १९७६, दूसरा संस्करण।
वि० पी०, विनयपीयूष	विनयपत्रिकाका 'विनयपीयूष' नामक तिलक, सन् १९४७ में प्रकाशित
वि० पु० ६.५	विष्णुपुराण अंश ६ अध्याय ५
वीर, वीरकविजी	पं० महाबीरप्रसाद मालवीयकृत टीका, जिसमें अलंकारोंको विशेषरूपसे दिखाया है। प्रयागसे सं० १९७९ में प्रकाशित हुई।
वे० भू० वे०भू० पं० रा० कु० दा०	वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० श्रीरामकुमारदासजी, मानसतत्त्वान्वेषी रामायणी, श्रीअयोध्याजी
वै०	श्रीवैजनाथदासजीकृत 'मानसभूषण' नामक तिलक प्रथम संस्करण १८९० ई०
बृह०(बृहदारण्यक)३.७.१५	बृहदारण्यकोपनिषद् तृतीयाध्याय सप्तम ब्राह्मण श्रुति १५
शं० ना०, शं० चौ०	मानसमराल स्वर्गीय पं० शम्भुनारायण चौबे, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, पुस्तकालयाध्यक्ष काशी ना० प्र० सभा। (नागरीप्रचारिणी पत्रिका वै० १९९९ में उनके 'मानस-पाठभेद' नामक लेखसे मानसपीयूषके इस संस्करणमें सं०१७२१, १७६२, छ०, को० रा० और १७०४ के पाठभेद दिये गये हैं)
(बाबू)श०सु०दा०	बाबू श्यामसुन्दरदासजी, सभापति काशीनागरीप्रचारिणीसभाकी टीका
श० सा०	नागरीप्रचारिणीसभाद्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्दोंका कोश शब्दसागर (प्रथम बृहत् संस्करण)
शिला	जिला रायबरेली, ग्राम पूरे बबुरहानिवासी स्वर्गीय बाबा श्रीहरीदासजीरचित 'शीलावृत्ति' नामक टीका, द्वितीय संस्करण सन् १९३५ ई०
पं०श्रीशुकदेवलाल	इनकी टीका जो नवलकिशोरप्रेससे प्रकाशित हुई थी, जिसमें

संकेताक्षर	विवरण
	उन्होंने प्रत्येक दोहेमें केवल आठ चौपाइयाँ (अर्धालियाँ) रखीं और सब काट-छाँट डालीं।
श्लो०	श्लोक
श्वे० (श्वे० श्व०)	श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ६ मन्त्र २३
श्रीभाष्य	ब्रह्मसूत्रपर भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजीका प्रसिद्ध भाष्य
सं०	संस्कृत, संहिता, संवत्
स०	सर्ग
संत उन्मनी टीका	मा० त० वि० में देखिये
संत श्रीगुरुसहायलालजी	,, ,,
शतपञ्चार्थप्रकाश	बाबा सरयूदास-(श्रीअयोध्याजी-) की नामपरक एक सौ पाँच चौपाइयोंकी टीका
सत्योप० पू० अ०	सत्योपाख्यान पूर्वार्ध अध्याय
सा० द०	साहित्यदर्पण
सि० कौमुदी	सिद्धान्तकौमुदी
सि० ति०	'सिद्धान्ततिलक' नामकी टीका पं० श्रीकान्तशरणजी (अयोध्या) कृत जो श्रीरामलोचनशरणजीने पुस्तकभण्डार लहरियासरायसे सं० २००१ में प्रकाशित की और जिसका छपना तथा प्रकाशन जुलाई १९४७ से सुलहनामाद्वारा और पटना हाई-कोर्टबेंचके फैसला ता० ११ मई १९५१से भी बन्द कर दिया गया।
सिद्धान्तदीपिका	श्रीबालअलीजी विरचिता (अप्राप्य)
सी०रा०प्र०प्र० / सी०रा० नाम प्र०प्र० / सी० नाम प्र०प्र०	श्री १०८ महाराज युगलानन्यशरणजी लक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजीका 'श्रीसीतारामनाम-प्रताप-प्रकाश' नामक नामपरत्वके प्रमाणोंका अपूर्व संग्रह।
सुं० १०	सुन्दरकाण्ड दोहा १० या उसकी चौपाई
सु०द्वि०,सु० द्विवेदी	काशीके स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० सुधाकरजी द्विवेदी।
(श्री)सुदर्शनसिंहजी	मानसमणिमें निकले हुए महात्मा श्रीसुदर्शनसिंह-(श्रीचक्र-) जीके लेख।
सु० र० भां०	सुभाषितरत्नमाला भाण्डागार
सू० मिश्र,सू०प्र० मिश्र	साहित्योपाध्याय पं० सूर्यप्रसाद मिश्र, काशी।
स्कं० पु०	स्कन्दपुराण
स्कं०पु०ना०उ० १७६	स्कन्दपुराण नागरखण्ड उत्तरार्ध अ० १७६
बाबा हरीदास	'शिला' में देखिये। भाष्यकार श्रीहरिदासाचार्यजी।
हारीत	हारीतस्मृतिकार; हारीतस्मृति
☞	स्मरण रखने योग्य विशेषभाव अर्थात्
१७०४,१७२१, १७६२	इन संवतोंकी हस्तलिखित पोथियोंके पाठ जो शं० ना० चौबेजीने नागरीप्रचारिणी-पत्रिकामें प्रकाशित कराये थे।
१६६१	संवत् १६६१ की हस्तलिखित बालकाण्डकी पोथी जो श्रावण-कुञ्ज, श्रीअयोध्याजीमें सुरक्षित है। इसकी एक प्रतिलिपि हमने स्वयं लिख ली है जो हमारे पास है। इसमें हमने पाठके लेखपर अपने नोट्स (notes) भी दिये हैं।
[ ] ( )	कोष्ठकान्तर्गत लेख प्राय: सम्पादकीय हैं जहाँपर किसीका नाम नहीं दिया गया है।

(१) स्मरण रहे कि बालकाण्डमें हमने बालकाण्डका सांकेतिक चिह्न 'बा०' अथवा '१' न देकर बहुत जगह (बालकाण्डके सातवें दोहेके आगेकी संख्या बतानेके लिये) केवल दोहेका नम्बर या दोहेकी संख्या और साथ ही बिन्दु बीचमें देकर अथवा कोष्ठकमें अर्धालीका नम्बर दिया है। जैसे, (३६१)=दोहा ३६१ या उस दोहेकी चौपाई। १३ (२), १३.२ वा १३।२=दोहा १३ की दूसरी अर्धाली इत्यादि।

(२) बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तरकाण्डोंके लिये क्रमसे १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ सूचक अंक दिये गये हैं।

(३) प्रत्येक पृष्ठके ऊपर दोहा और उसकी चौपाइयोंका नम्बर दिया गया है, जिससे पाठकको देखते ही विदित हो जाय कि उस पृष्ठपर उन चौपाइयोंकी व्याख्या है।

ग्रन्थोंके नाम जो इस भागमें आये हैं

१ अनर्घराघव-नाटक
२ अनेकार्थशब्दमाला
३ अभियुक्त सारावली
४ अमरकोश
५ ,,भानुदीक्षितकृत टीका
६ अमरविवेकटीका
७ अलंकार-मंजूषा
८ अवतारमीमांसा
९ अवतारसिद्धि
१० अव्ययकोश
११ आचारमयूख
१२ 'आज' (दैनिक पत्र)
१३ आह्निकसूत्रावली
१४ उत्तररामचरित

उपनिषद्—

१५ कठ; १६ केन; १७ छान्दोग्य; १८ जाबाल; १९ तैत्तिरीय; २० तैत्तिरीय शिक्षा; २१ बृहदारण्यक; २२ ब्रह्म; २३ मुण्डक; २४ मुक्तिक; २५ श्रीराम-तापनी; २६ श्वेताश्वतर; २७ श्रीसीतोपनिषद्।

२८ (क) कवितावली (तु० रचनावली)
२८ कामन्दक
२९ काव्यप्रकाश
३० किरातार्जुनीय
३१ कीर्त्तिसंलापकाव्यक
३२ कुमारसंभव
३३ कुवलयानन्द

कोश—

४ ,, अमर
१० ,, अव्यय
३४ ,, पद्मचन्द्र
३५ ,, मेदिनी

कोश—

३६ ,, श्रीधरभाषाकोश
३७ ,, विश्वकोश
३८ ,, हिंदी-शब्दसागर
३९ ,, हैमकोश गीता—

४० गुरुगीता
४१ श्रीमद्भगवद्गीता
४२ पाण्डवगीता
४३ गीतारहस्य (श्रीबाल-गंगाधर तिलक)
४४ (क) गीतावली (तुलसीरचनावली)
४४ चन्द्रालोक
४५ छन्दप्रभाकर
४६ तुलसीपत्र
४७ तुलसीग्रन्थावली (ना० प्र० स०)
४८ तुलसीरचनावली (श्री-सीतारामप्रेस, काशी)
४९ (क) देवीभागवत
४९ दोहावली
५०दोहावली (लालाभगवान-दीनजीकी टीका)
५१ धर्मसिन्धु
५२ नाना शास्त्रीकृत प्रति-वार्षिक पूजाकथासंग्रह
५३ निर्णयसिन्धु
५४ निरुक्ति (विष्णुसहस्र-नामकी श्लोकबद्ध टीका)
५५ नैषध (हर्षकवि)
५६ पञ्चदशी
५७ परमलघुमञ्जूषा
५८ पाणिनीय शिक्षा
५९ पाणिनीय व्याकरण

पुराण—

६० कालिका
६१ कूर्म
६२ गरुड़
६३ नारदीय
६४ पद्म
६५ बृहद्विष्णु
६६ ब्रह्म
६७ ब्रह्मवैवर्त
६८ भविष्योत्तर
६९ भागवत
७० मत्स्य
७१ महाभारत
७२ मार्कण्डेय
७३ विष्णु
७४ शिव
७५ स्कन्द
७६ हरिवंश
७७ प्रसंगरत्नावली
७८ प्रसन्नराघवनाटक
७९ ब्रह्मसूत्र
८० भक्तमाल (श्रीनाभा-स्वामीकृत)
८१ भक्तिरसबोधिनी टीका
८२ भर्तृहरिशतक
८३ भूषणग्रन्थावली
८४ भोजप्रबन्धसार
८५ मन्त्रप्रभाकर
८६ मनुस्मृति
८७ मयूरचित्र
८८ महाकालसंहिता
८९ महिम्न:स्तोत्र (मधुसूदनी टीका)
९० मानस-अभिप्रायदीपक
९१ मानस-अभिप्रायदीपक चक्षु
९२ मानसतत्त्वप्रकाश
९३ मानसतत्त्वविवरण
९४ मानसदीपिका
९५ मानसपत्रिका
९६ मानसप्रसंग
९७ मानसमणि
९८ मानसमयङ्क
९९ मानसमार्तण्ड
१००मानसरहस्य (अलंकारपुस्तिका)
१०१ मानससुधा
१०२ मानसाङ्क
१०३ मानसागरी
१०४ माहेश्वरसूत्र
१०५ मिताक्षरा
१०६ मुहूर्तचिन्तामणि

१०७ याज्ञवल्क्यस्मृति
१०८ योगवासिष्ठ
१०९ योगशास्त्र
११० युगल अष्टयामसेवा (श्रीरामटहलदासकृत)
१११ रघुवंश
११२ रसेन्द्रसारसंग्रह
११३ रामचन्द्रिका
११४ रामसुधा (काष्ठजिह्व-स्वामी)
,, (क) रामस्तवराज

रामायण—
११५ अद्भुत
११६ अध्यात्म
११७ आनन्द
११८ आश्चर्य
११९ महारामायण

वाल्मीकीय—
१२०,, चन्द्रशेखर शास्त्रीकी टीका
१२१,, द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीकी टीका

वाल्मीकीय—
१२२ ,,रूपनारायण पांडे-की टीका
१२३ ,, रामाभिरामी टीका
१२४ ,, शिरोमणि टीका
१२५ सत्योपाख्यान
१२६ रुद्रयामल अयोध्या-माहात्म्य
१२७ (क) बरवै (तु० रचनावली)
१२७ वाग्भट्टालङ्कार
१२८ वसिष्ठसंहिता
१२९ विजयदोहावली
१२९ (क)विनयपत्रिका
१३० विष्णुसहस्रनाम-भाष्य
१३१ विहारीसतसई
१३२ वैराग्यसंदीपनी
१३३ बृहत्-ज्योतिषसार
१३४ वृद्धचाणक्य
१३५ बृहद्विष्णुपुराण
१३५ (क)वृद्धसुश्रुत
१३५ (ख)बृहद्दैवज्ञरञ्जन
१३५ वैद्यरहस्य
१३६ (क) भावप्रकाश
१३६ शतदूषणी
१३७ शाबरभाष्यपर श्लोक-वार्त्तिक
१३८ शार्ङ्गधर
१३९ शास्त्रसार
१४० शिवसंहिता
१४१ शैवागम
१४२ श्रीभाष्य

श्रीरामचरित-मानसकी संगृहीत कुछ छपी टीकाएँ-
१४३ श्री १०८ रामचरण दास करुणा-सिंधुजीकृत
१४४ श्रीसंतसिंह-पंजाबीजीकृत
१४५ मुं० रोशनलालकृत (श्रीरामबख्श पांडेजी)
१४६ श्रीबैजनाथजीकृत
१४७ रामायणपरिचर्या, परिशिष्ट, प्रकाश
१४८ बाबा हरीदासजीकृत
१४९ पं० रामेश्वरभट्टकृत
१५० विनायकी टीका
१५१ बाबू श्यामसुन्दर-दासकृत
१५० पं० महाबीरप्रसाद मालवीयकृत
१०२ मानसाङ्क
१५३ सिद्धान्ततिलक
९३ मानसतत्त्वविवरण संत-उन्मनी टीका (यह केवल बाल-काण्डकी है)।
१५४ मानसपरिचारिका (यह केवल प्रथम ४३ दोहोंकी है)।
९५ मानसपत्रिका (यह केवल प्रथम ६० दोहोंकी है)।
९९ मानसमार्तण्ड (प्रथम ४३ दोहोंकी टीका) इत्यादि-इत्यादि
१५५ श्रुतबोध
१५६ संगीतमकरन्द
१५७ सतसई (तुलसी)
१५८ सत्संगविलास
१५९ सत्योपाख्यान
१६० सरस्वती-कण्ठाभरण
१६१ सांख्यशास्त्र
१६२ साहित्यदर्पण
१६३ सिद्धान्तकौमुदी
१६४ सिद्धान्ततत्त्वदीपिका (श्रीस्वामी बालकृष्ण-दासकृत)
१६५ सिद्धान्त-शिरोमणि (श्रीस्वामी-भास्कराचार्यकृत)
१६६ श्रीसीतामन्त्रार्थ
१६७ श्रीसीतारामनाम-प्रतापप्रकाश
१६८ श्रीसीताशृङ्गारचम्पू
१६९ सुन्दरीतन्त्र
१७० सुदर्शनसंहिता
१७१ सुभाषितरत्न भाण्डागार
१७२ स्तवपञ्चक
१७३ स्तोत्ररत्नावली (गी०प्रे०)
१७४ हनुमानबाहुक

स्मरणीय कुछ विषयों और शब्दोंकी अनुक्रमणिका

कुछ अलंकारोंके नाम—

अक्रमातिशयोक्ति, अतद्‌गुण, अधिक अभेद रूपक, अनुगुण, तद्‌गुण और उल्लासके भेद, अनुज्ञा, अन्योन्यालंकार, अर्थान्तरन्यास, असंगति, आत्मतुष्टि, उदाहरण, उन्मीलित, उल्लास, उल्लेख, एकावली, कारणमाला, काव्यार्थापत्ति, काव्यलिंग, तद्‌गुण, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, निदर्शना, निषेधाक्षेप, परम्परितरूपक, परिकर, पर्याय, पर्यायोक्ति, पूर्णोपमा, प्रतिवस्तूपमा, प्रतिषेध, भिन्नधर्मामालोपमा, मुद्रालंकार, यथासंख्य, रूपक और उसके भेद, विकस्वर, विपर्यय, विषम, व्यंग्य, व्यतिरेक, व्याघात, साङ्गरूपक इत्यादि।

राम-दरबार

श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥

श्रीरामदरबारकी झाँकी

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्य्याय।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै।

श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्त्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय

श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय

शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय श्रीहनुमते।

ॐ साम्बशिवाय नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।

परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः।

सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्य्यश्रीसाकेतवासिश्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः।

मानस-पीयूष

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥ १॥

श्रीरामं रामभक्तिं च रामभक्तांस्तथा गुरून्।
वाक्कायमनसा प्रेम्णा प्रणमामि पुनः पुनः॥ २॥

जय श्रीसिय सियप्राणप्रिय सुखमाशीलनिधान।
भरतशत्रुहन जनसुखद रामानुज हनुमान॥ १॥

श्रीगुरुचरनसरोजरज निज मन मुकुर सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिसद जस जो दायक फलचारि॥ २॥

बंदउँ तुलसीके चरन जिन्ह कीन्हों जग काज।
कलि समुद्र बूड़त लखेउ प्रगटेउ सप्त जहाज॥ ३॥

श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

प्रथम सोपान (बालकाण्ड खण्ड १)

श्रीजानकीवल्लभो विजयते।

(श्लोकाः)

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ॥ १॥

शब्दार्थ—**वर्णानामर्थसंघानाम्=वर्णानाम्-अर्थ-संघानाम्**=अक्षरोंके और अर्थसमूहोंके। **छन्दसामपि=छन्द-साम्-अपि**=छन्दोंके भी। **कर्त्तारौ**=करनेवाले (दोनों)। '**वर्णानाम्**' से '**मङ्गलानाम्**' तक (केवल '**अपि**' को छोड़कर) सब शब्द सम्बन्धकारक (अर्थात् षष्ठी विभक्तिके) हैं।

अन्वय—(अहम्) '**वर्णानां छन्दसां अर्थसंघानां रसानां च मङ्गलानामपि कर्त्तारौ वाणीविनायकौ वन्दे।**'

अर्थ—(मैं) अक्षरोंके, छन्दोंके, अर्थसमूहोंके, रसोंके और मङ्गलोंके भी करनेवाले श्रीसरस्वतीजी और श्रीगणेशजीकी वन्दना करता हूँ॥ १॥

नोट—१ हमने यहाँ अन्वयमें वर्णोंके पश्चात् छन्दोंको लिया है, क्योंकि छन्दोंका सम्बन्ध वर्णोंसे है, अर्थसे नहीं।

मङ्गलाचरण

ग्रन्थके निर्विघ्न समाप्ति और मङ्गलकारी होनेके लिये मङ्गलाचरण किया जाता है। आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गलाचरण करना अति कल्याणकारी है। पातञ्जल महाभाष्य '**भू वा दयो धातवः।**' अष्टाध्यायी-सूत्र (१। ३। १) में लिखा है कि '**मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्त्यायुष्मत् पुरुषाणि चाऽध्येतारश्च मङ्गलयुक्ता यथा स्युरिति॥**' अर्थात् जिन शास्त्रोंके आदि-मध्य-अन्तमें मङ्गलाचरण किया जाता है वे सुप्रसिद्ध होते हैं अर्थात् निर्विघ्न समाप्त भी होते हैं, तथा उसके अध्ययन करनेवाले (अर्थात् वक्ता, श्रोता) आयुष्मान्, वीर और मङ्गलकल्याणयुक्त होते हैं।

'मध्य' का अर्थ यहाँ ग्रन्थका बिलकुल ठीक बीचोंबीच नहीं है; वरंच आदि और अंतके बीचमें कहीं, ऐसा अर्थ समझना चाहिये। दो-एक टीकाकारोंने इस प्रसंगपर प्रमाणरूपमें निम्न श्लोक दिया है और महात्माओंने भी इसे अपनाया है। श्लोक यथा, '**आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रंथस्य मङ्गलम्। तत्पठनं पाठनाद्वापि दीर्घायुर्धार्मिको भवेत्॥**' परन्तु यह उद्धरण किस ग्रन्थसे लिया गया है, इसका उल्लेख किसीने नहीं किया और यह श्लोक अशुद्ध भी है। पर यदि किसी ऋषिप्रणीत ग्रन्थमें हो तो माननीय ही है।

'तर्कसंग्रहदीपिका' में मङ्गलके विषयमें यह प्रश्न उठाया है कि 'मङ्गल करना चाहिये, इसका प्रमाण क्या है?' और उसके उत्तरमें यह बताया है कि एक तो शिष्टाचार [अर्थात् वेदोक्ततत्त्वज्ञानपूर्वक वेदविहित करनेवाले शिष्ट पुरुष ऐसा आचरण (मङ्गल) करते चले आये हैं।] दूसरे '**समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्**' ऐसी श्रुति है।

उसी ग्रन्थमें यह भी शङ्का की गयी है कि 'मङ्गलाचरण करनेपर ग्रन्थकी अवश्य निर्विघ्न समाप्ति होती है और मङ्गल न करनेपर समाप्ति नहीं होती, ऐसा नियम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनुभव ऐसा है कि मङ्गल होनेपर भी कादम्बरी आदि ग्रन्थ समाप्त नहीं हुए तथा मङ्गलाचरण न होनेपर भी किरणावली आदि ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हुए हैं?' और इसका समाधान यह किया है कि (क) कादम्बरी आदि ग्रन्थोंकी समाप्ति न होनेका कारण यह हो सकता है कि मङ्गलाचरणोंकी अपेक्षा विघ्नकारक प्रारब्ध अधिक था। (ख) किरणावली आदिके सम्बन्धमें यह हो सकता है कि प्रथम मङ्गलकारक भगवत्स्मरणादि करके ग्रन्थारम्भ किया हो। परन्तु उस मङ्गलस्मरणका उल्लेख ग्रन्थारम्भमें नहीं किया। ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हुआ, इसीसे ऐसा अनुमान होता है।

वस्तुतः यह नियम भी तो नहीं है कि प्रत्येक ग्रन्थकारका विघ्नकारक प्रारब्ध कम होना ही चाहिये। जिसका विघ्नकारक प्रारब्ध नहीं है उसका ग्रन्थ मङ्गल न होनेपर भी निर्विघ्न समाप्त हो सकता है। इसीसे तो नास्तिकोंके ग्रन्थ मङ्गल न होनेपर भी समाप्त होते देखे जाते हैं। बाधक प्रारब्ध सर्वसाधारण लोग नहीं जानते, इसलिये ग्रन्थारम्भके समय यथासम्भव सबको ही मङ्गलाचरण करना चाहिये। यदि बाधक प्रारब्ध हुआ तो इससे निवृत्त हो ही जायगा और यदि न हुआ तो मङ्गलाचरण करनेसे कोई हानि नहीं है। इसीसे तो प्राचीन महात्माओंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरण किया है, जिससे इसे देखकर आगे भी लोग इसका अनुकरण करें।

श्रीमद्गोस्वामीजीने भी इसी सिद्धान्तानुसार प्रत्येक काण्डके आदिमें नमस्कारात्मक एवं वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया है। यों तो गोस्वामीजीने समस्त रामचरितमानसमें अपनी अनुपम प्रतिभा दिखायी है और उसे अनेकों रसोंसे अलङ्कृतकर भक्ति कूट-कूटकर उसमें भर ही दी है। उसी पूज्य रामायणके मङ्गलाचरणमें आपने जिन उत्कृष्ट भावोंका निर्देश किया है, जिस भक्तिभावका परिचय दिया है और जिस मङ्गलकार्यकी कामना की है, वे सब बातें सहज ही मनको आकर्षित किये लेती हैं। आपने मङ्गलाचरणको अनुष्टुप् छन्दमें देकर अपने हृदयकी अनुपम भक्तिको छहरा दिया है।

☞ जितना मङ्गलाचरण गोस्वामीजीने इस ग्रन्थके प्रारम्भमें किया है, जो बालकाण्डके लगभग दशांशके बराबर होगा, उतना मङ्गलाचरण अर्वाचीन संस्कृत भाषा अथवा किसी भाषामें सुननेमें नहीं आता है। यही तो कारण है कि जितना मानवजातिने इसे अपनाया उतना कदाचित् ही किसी और ग्रन्थको अपनाया होगा।

श्लोकका छन्द

यह मङ्गलाचरण अनुष्टुप् छन्दमें है। अनुष्टप् छन्दका स्वरूप इस प्रकार है। '**श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥**' (श्रुतबोध १०) अर्थात् इसके चारों चरणोंमें आठ-आठ वर्ण होते हैं। प्रत्येक चरणका पञ्चम वर्ण लघु और छठा गुरु, दूसरे और चौथे चरणोंके सप्तम वर्ण भी लघु और पहले तथा तीसरे चरणोंके सातवें वर्ण गुरु होते हैं।

अनुष्टुप् छन्दसे मङ्गलाचरण प्रारम्भ करनेके अनेकों भाव कहे जाते हैं, जिनमेंसे एक यह है कि प्रथम यही छन्द रचा गया। वाल्मीकिजी आदिकवि हुए। उनके मुखारविन्दसे भी यही छन्द प्रथम निकला था। यथा— '**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥**' (वाल्मीकि० १। २। १५) अर्थात् हे व्याध! कामपीड़ित क्रौंचके जोड़ेमेंसे तूने एकको मारा, अतएव अब संसारमें बहुत दिन न रहेगा। अर्थात् तेरा शीघ्र नाश हो। (कथा यह है कि एक बार जब भरद्वाजजीके साथ वे तमसा नदीपर स्नानको गये हुए थे, उसी समय एक व्याधने एक क्रौंच पक्षीको, जो अपनी मादाके साथ जोड़ा खा रहा था, मारा, जिससे वह छटपटाकर मर गया और मादा करुणस्वरसे चिल्लाने लगी। यह दृश्य देख उन्होंने व्याधको शाप दिया। पर वह शाप उनके मुखसे अकस्मात् छन्दोबद्ध श्लोकके रूपमें निकला। इसके पूर्व इस लोकमें कभी छन्दोबद्ध वाणी उपलब्ध नहीं थी।) इसीसे वाल्मीकिजी यहाँके

'आदिकवि' कहलाते हैं। वाल्मीकीय रामायणका मङ्गलाचरण भी इसी छन्दमें है। अतः पूर्वजन्मके संस्कारवश उसी छन्दसे मानसका मङ्गलाचरण किया गया है। गोस्वामी तुलसीदासके समकालीन सुप्रसिद्ध भक्तमालरचयिता श्रीमद्गोस्वामी नाभा नारायणदासजीने भी उनको वाल्मीकिजीका अवतार कहा है। यथा—'*कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो।*' (छप्पय १२९) तथा— 'वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति।' (यह श्लोक भविष्यपुराणमें कहा जाता है।) और भाव ये कहे जाते हैं—(२) अनुष्टुप् छन्दके चारों चरण सम हैं, इसी प्रकार श्रीरघुनाथजी भी सम हैं। (३) इसमें बत्तीस वर्ण होते हैं और श्रीरघुनाथजी बत्तीस लक्षणोंसे युक्त हैं वा श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों १६-१६ कलाके पूर्ण अवतार हैं। अन्य किसी छन्दमें ३२ वर्ण नहीं होते। [वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त माणवकाक्रीड (भ त ल ग), नगस्वरूपिणी (ज र ल ग) और विद्युन्माला (म म ग ग), ये तीन छन्द और हैं जिनमें भी ३२ ही वर्ण होते हैं। हाँ, बत्तीस वर्णवाले छन्दोंमें अनुष्टुप् आदि (प्रथम) छन्द है।] (४) इसमें आठ-आठ वर्ण नहीं हैं वरञ्च ये मानो अष्ट अङ्ग हैं जिससे कविने देवगणको साष्टाङ्ग प्रणाम किया है। (५) श्रीअयोध्याजीमें अष्टचक्र हैं। यथा, '**अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।**' (अथर्ववेद संहिताभाग, दशमकाण्ड, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूक्तमें) और, अनुष्टुप्में भी आठ ही वर्ण-संख्या है। धामके भावसे इस छन्दके प्रथम धरा इत्यादि अनेक भाव कहे गये हैं। पर ये सब भाव क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।

गणका विचार

किसी काव्यके प्रारम्भमें जो गण होता है उसीके अनुसार प्रायः काव्यका फल होता है। छन्दका नियम बतानेके लिये वर्णवृत्तोंमें तीन-तीन वर्णोंका एक-एक गण निश्चित किया गया है। इनमें लघु और गुरुके भेदसे गणोंके कुल आठ भेद होते हैं। मगण (SSS म), यगण (। SS य), रगण (S। S र), सगण (।। S स), तगण (SS। त), जगण (।S। ज), भगण (S।। भ) और नगण (।।। न)। यथा, '**आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्। यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरु लाघवम्॥**' (श्रुतबोध ३) अर्थात् आदि, मध्य और अन्तमें 'भ, ज, स' में यथानुक्रम गुरु वर्ण होता है। (अर्थात् भगणका आदि वर्ण गुरु होता है, शेष दोनों लघु। जगणका मध्य गुरु, शेष दो लघु। सगणका अन्तिम वर्ण गुरु और प्रथमवाले दोनों लघु होते हैं।) इसी प्रकार 'य, र, त' में क्रमसे आदि, मध्य और अन्तका वर्ण लघु होता है, शेष दो गुरु होते हैं। मगणमें सब वर्ण गुरु और नगणमें सब लघु होते हैं। इनमेंसे चार माङ्गलिक हैं और चार अमाङ्गलिक। यथा—'**मो भूमिः श्रियमातनोति यो जलं वृद्धिं रचाग्निर्मृतिम्। सो वायुः परदेशदूरगमनं त व्योमशून्यं फलम्॥ जः सूर्यो रुजमाददाति विपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलम्। नो नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां बुधाः॥**' (श्रुतबोधके अन्तमें)। अर्थात् मगणकी देवता भूमि है जो मङ्गलश्रीका विस्तार करती है। यगणकी देवता जल है जो वृद्धिकारक है। रगणकी देवता अग्नि है जो मृत्युकारक है। सगणकी देवता वायु है जिसका फल है 'बहुत दूर परदेशमें जाना'। तगणकी देवता आकाश है और फल शून्य। जगणकी देवता सूर्य और फल रोग है। भगणकी देवता चन्द्रमा और फल निर्मल यश है। नगणकी देवता स्वर्ग और फल सुख है। गणविचारके कुशल पण्डित ऐसा कहते हैं। इस श्लोकके अनुसार चार गणों—रगण, सगण, तगण और जगणका जो फल बताया गया है वह अशुभ है, इसीसे ये चार गण अमाङ्गलिक माने गये हैं। पिंगलशास्त्रमें '।' और 'S' क्रमसे लघु और गुरुके बोधक चिह्न माने गये हैं। दुष्ट गणोंको आदिमें न देना चाहिये। यथा—'**दुष्टारसतजा यस्माद्धनादीनां विनाशकाः। काव्यस्यादौ न दातव्या इति छन्दविदो जगुः॥**' (छन्दप्रभाकरसे उद्धृत।)

स्मरण रहे कि वर्णवृत्त छन्दों और देवकाव्यमें गणका दोष नहीं देखा जाता। यथा—'**दोषो गणानां शुभदेव्यवाच्ये न स्यात्तथैवाक्षरवृत्तसंज्ञे। मात्रोत्थपद्ये तु विचारणीयो न्यासादगुरोश्चैव लघोरनित्यात्॥**' (छन्दप्रभाकरसे) तो भी गोस्वामीजीने ग्रन्थारम्भके समस्त सोपानोंके मङ्गलाचरणमें शुभगणका ही प्रयोग किया है और वह भी सर्वत्र 'मगण' का ही। जैसे कि (१) वर्णानाम् (SSS), (२) यस्याङ्के (SSS),

(३) **मूलं धर्म** (SSS), (४) **कुन्देन्दी** (SSS), (५) **शान्तं शा** (SSS), (६) **रामं का** (SSS), (७) **केकी कं** (SSS)।

इस श्लोकके आरम्भमें मगण पड़ा है जिसकी देवता भूमि है, जो दिव्य गुणोंकी उपजाती और मङ्गलश्रीका विस्तार करती है। मा० मा० कार यह प्रश्न उठाकर कि 'मगण गणसे ही क्यों प्रारम्भ किया जब कि नगण, भगण और यगण भी तो शुभगण हैं?' उसका उत्तर यह लिखते हैं कि 'मगणकी देवता पृथ्वी है और पृथ्वीकी सुता श्रीजानकीजी हैं। स्त्री-जातिको मातृसम्बन्ध विशेष प्रिय होता है। श्रीकिशोरीजी इस सम्बन्धसे अधिक प्रसन्न होकर कृपा प्रदान करेंगी, तब मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। वही हुआ भी।' वस्तुत: ग्रन्थकार जिस भी गणसे प्रारम्भ करते उसीमें शङ्का हो सकती है।

इन्हीं मङ्गलकामनाओंसे श्रीतुलसीदासजीने इस मङ्गलाचरणको एक विशेष रूप देकर अपने गम्भीर भावों और गुरुतर विचारोंका उचित रूपसे विकास किया है।

'वर्णानामर्थसंघानाम्' इति।

टिप्पणी—(पं० रामकुमारजी)—*'आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥ भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥'* (१। ९। १०-११) इन सबोंके कर्ता वाणी-विनायक हैं। 'क' से लेकर 'ह' तक तैंतीस वर्ण व्यञ्जन हैं और अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ—नौ स्वर हैं। ये सब बयालीस अक्षर हैं। एक-एक अक्षरके अनेक अर्थ हैं।

नोट— २ पण्डितजीने यहाँ जो संख्या दी है 'माहेश्वरचतुर्दशसूत्र' में भी उतने ही वर्ण संगृहीत हैं। परंतु 'पाणिनीय शिक्षा' में लिखा है कि शिवजीके मतसे संस्कृत भाषा और वेद दोनोंमें मिलकर तिरसठ या चौंसठ वर्ण ब्रह्माजीने स्वयं कहा है। 'अ, इ, उ, ऋ' इनमेंसे प्रत्येकके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीन-तीन स्वरूप होनेसे ये बारह स्वर हुए। 'ए, ऐ, ओ, औ' इनके दीर्घ और प्लुत दो भेद होनेसे ये आठ और एक 'लृ' इस तरह कुल इक्कीस स्वर हैं। (क, च, ट, त, प,) पञ्चवर्गके पचीस वर्ण हुए जो 'स्पर्श' कहलाते हैं। य, र, ल, व, श, ष, स और ह आठ वर्ण ये हैं। वेदोंमें चार 'यम' भी वर्णोंमें गिने जाते हैं। अनुस्वार (ं), विसर्ग (ः), जिह्वामूलीय (ᳵक), उपध्मानीय (ᳶप) ये चार हुए। विसर्गके आगे 'क' होनेसे 'जिह्वामूलीय' और 'प' होनेसे 'उपध्मानीय' कहा जाता है। ऋग्वेदमें एवं मराठी भाषामें 'दु:स्पृष्ट' नामसे एक। 'लृ' का प्लुत-भेद भाष्यकारके मतसे है, पाणिनिके मतसे नहीं। इसीसे पाणिनिके मतसे तिरसठ और भाष्यकारके मतसे चौंसठ वर्ण हुए। यथा—'**त्रिषष्टिश्चतु:षष्टिर्वा वर्णा: शम्भुमते मता:। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ता: स्वयम्भुवा॥ स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशति:। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमा: स्मृता:॥ अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵ क: ᳶ पौ चापि पराश्रितौ। दु:स्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकार: प्लुत एव च॥**' (पाणिनीय शिक्षा ३—५)

गौड़जी कहते हैं कि यहाँ वर्णोंसे यदि अकारादि ग्रहण किये जायँ तो संस्कृतके नाते माहेश्वर-सूत्रोंमें जो वर्ण दिये हैं उनके सिवा ह्रस्व ए, ओ, अय्, अव्, ड़, ढ़ आदिको शामिल करना होगा, एवं संस्कृतका अंश नाममात्र होनेसे और प्राकृतकी बहुलताके कारण ऋ, लृ, ङ, ञ, ण, श, ष (मूर्द्धन्य षकार), ज्ञ आदि अक्षरोंका अभाव समझना पड़ेगा। परन्तु मानस ध्वन्यात्मक काव्य है। इसलिये यहाँ वर्णोंका लाक्षणिक अर्थ सम्पूर्ण शिक्षा वेदाङ्ग है, जिसमें वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, वर्ण, स्वर, उदात्त, अनुदात्तस्वरित, ताल, ग्राम, द्रुत, अणुद्रुत आदि सम्पूर्ण गान्धर्ववेद शामिल हैं।

३—इस श्लोकमें 'छन्दसाम्' तक चार स्वतन्त्र विषय देखनेमें आते हैं। वर्ण, अर्थ, रस और छन्द। वर्णसे शब्द बनता है और शब्दसे वाक्य बनता है। वाक्यके अन्तर्गत तीन भेद हैं। साधारण, मिश्र और संयुक्त। फिर इनके भी कई भेद हैं इत्यादि। 'वर्ण' शब्दसे यह सब बता दिया। शब्दालङ्कार भी जो

वाक्यमें आते हैं उनका भी ग्रहण 'वर्ण'में हो गया। 'अर्थ' से शब्दार्थ, वाक्यार्थ, ध्वन्यार्थ इत्यादि और सब अर्थालङ्कारोंका ग्रहण हो गया। 'रस' और 'छन्द' पर आगे देखिये।

४—**'रसानाम्'** इति। जब मनोविकारोंका वर्णन कारण, कार्य, सहकारियोंसहित कवि करते हैं तो वे विकार पढ़नेवालेके मनमें भी जागृत होकर एक प्रकारकी उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इसीको 'रस' कहते हैं। काव्यमें इसके नौ भेद हैं। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त। नाट्यशास्त्र तथा अमरकोशमें आठ ही रस माने गये हैं। शान्तरसको रस नहीं माना है। यथा— **'शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः। बीभत्सरौद्रौ च रसाः।'** (अमर० १। ७। १७), **'शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः। बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसास्मृताः॥'** (अमरकोश-टीका) 'रस' से समस्त काव्यरस, समस्त भक्तिरस और उनके भेद-प्रभेदके समस्त काव्य-ग्रन्थोंका ग्रहण होगा। कोई-कोई भक्तिके वात्सल्य, सख्य और दास्य रसोंको भी इन नौ रसोंके साथ मिलाकर बारह रस कहते हैं। रस और छन्दोंके स्वरूप ठौर-ठौरपर यथोचित स्थानोंपर लिखे गये हैं।

५—जब पदोंकी रचनामें वर्ण या मात्रा या दोनोंकी संख्या, विराम और गति नियमानुसार होते हैं तब उस रचनाको 'छन्द' कहते हैं। **'छन्दस्'** शब्द सबसे पहले अथर्ववेदके लिये पुरुषसूक्तमें प्रयुक्त हुआ है और बादको साधारणतया **'छन्दस्'** से वेद ही समझे जाने लगे। वेदोंमें **'छन्दस्'** गायत्री, अनुष्टुभादि वृत्तोंके लिये आम तौरपर प्राय: आया करता है। परन्तु यह मन्त्रोंका अङ्ग नहीं है। उसके आगे छन्दःशास्त्रके अनुसार वृत्तविभागका निर्देश है (गौड़जी)। 'छन्द' शब्दसे समस्त पिंगलशास्त्रका भी ग्रहण हो गया।

'वर्णानामर्थसंघानां कर्त्तारौ' इति।

(१) **गौड़जी**—वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त और छन्दस् हैं। इतिहास, पुराण, स्मृति और न्याय उपाङ्ग हैं। चारों वेद 'ऋग्यजुः, साम तथा अथर्वण' में ही चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद) भी शामिल हैं। वर्णोंमें शिक्षा और अर्थसंघोंमें व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, इतिहास, पुराण और उपवेद सभी शामिल हैं। रसोंमें समस्त काव्यग्रन्थ और छन्दोंके ग्रन्थोंमें वेदोंसे लेकर शेष सभी विद्याएँ आ गयीं। इन सबोंकी परम कर्त्री भगवती वाणी हैं। यहाँ भगवती सरस्वतीकी पूर्ण मूर्तिका ध्यान करते हैं। आगे चलकर **'सारद सुरसरिता'** की वन्दनामें एक तो शारदाकी वन्दना है, दूसरे एकमात्र कविताके ही अङ्गका प्रसङ्ग है। मङ्गलके कर्त्तार एकमात्र गणेशजी हैं।

पं० रामकुमारजी—यहाँ मूर्तिरूप सरस्वतीकी वन्दना करते हैं। इसीसे कहते हैं कि वे वर्णादिकी कर्त्री हैं। आगे वाणीरूप सरस्वतीकी वन्दना करेंगे। यथा—***'पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥ मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥'*** (१। १५) यहाँ गणेशजीकी मूर्तिके साथ सरस्वतीजीकी मूर्तिकी वन्दना की और दोहा १५ में प्रवाहरूपा गङ्गाजीकी वन्दनाके साथ जब वन्दना की तब वाक्प्रवाहरूपा सरस्वतीजीकी वन्दना की।

(२) इस श्लोकमें श्रीसरस्वतीजीको वर्णादिकी कर्त्री कहा है। यह शङ्का होती है कि 'वाणी वर्णादिकी कर्त्री क्योंकर हुईं?'

इस विषयमें यह रहस्य है—(१) श्रीसरस्वतीजीने प्रणव (ॐ) से पचास वर्ण पाँच स्थानों (कण्ठ, मूर्धा, तालु, दन्त, और ओष्ठ) से उत्पन्न किये। यथा— **'व्यञ्जनानि त्रयस्त्रिंशत्स्वराश्चैव चतुर्दश। अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च॥ गजकुम्भाकृतिर्वर्णा प्लुतश्च परिकीर्तितः। एवं वर्णादिपञ्चाशन्मातृकायामुदाहृताः॥'** (महाकाल संहिता१-२) अर्थात् तैंतीस व्यञ्जन, चौदह स्वर [अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, (३ प्लुत), ए, ऐ, ओ, औ], अनुस्वार, विसर्ग और जिह्वामूलीय—इस प्रकार पचास वर्ण महाकालसंहितामें माने गये हैं। (☞ **'गजकुम्भाकृतिर्वर्ण'** शब्दसे लृकार सूचित किया है। क्योंकि इसका आकार हाथीके गण्डस्थलके सदृश

होता है।) ये पचासों वर्ण और इनके भेद-प्रभेद भगवती सरस्वतीके शरीरके अगणित अवयव हुए। इन्हीं वर्णोंके पद और प्रत्ययसे अर्थोंके समूह, रस और छन्द प्रकट हुए। *'बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।'* (१। २०। १) (२) दूसरे, जबतक सरस्वतीजीकी कृपा न हो तबतक वाणी स्फुरित नहीं हो सकती, इससे भी इन सबोंपर आपहीका अधिकार जान पड़ता है। कवित्वशक्ति इन्हींसे प्राप्त होती है। यथा—**'सद्यः कवित्वफलदां सद्यो राज्यफलप्रदाम्। भवाब्धितरणीं तारां चिन्तयित्वा न्यसेन्मनुम्॥'** [ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इनको श्रुतियों, शास्त्रों और विदुषोंकी जननी और कवियोंकी इष्टदेवता कहा है। यथा, **'वागधिष्ठातृदेवी सा कवीनां इष्टदेवता।''''''स्रष्ट्री श्रुतीनां शास्त्राणां विदुषां जननी परा॥'** (१। ३। ५५)]

'वाणी' इति।

श्रीमद्भागवतमें श्रीमैत्रेयजीने श्रीविदुरजीसे कहा है कि हमने सुना है कि एक बार अपनी परम सुन्दरी कन्या वाणीको देखकर ब्रह्माजीका चित्त कामवश हो गया। ऐसा संकल्प देख उनके पुत्रों मरीचि आदिने समझाया कि कन्या-गमनरूपी पाप आपके पहलेके किसी ब्रह्मा आदिने नहीं किया। यह कार्य आप-सदृश तेजस्वी पुरुषोंको शोभा नहीं देता इत्यादि। यह सुनकर ब्रह्मा लज्जित हुए और उन्होंने अपना वह शरीर उसी समय त्याग दिया। (भा० ३। १२। २८—३३) इसमें वाणीके लिये **'वाचं दुहितरं'** शब्द आये हैं जिससे सरस्वतीका ब्रह्माकी कन्या होना स्पष्ट कहा है। महाकवि हर्षके **'नैषध'** की भूमिकामें जो उनका और सरस्वतीका वाद-विवाद लिखा है उससे यह स्पष्ट है कि सरस्वतीजी अपनेको 'कुमारी कन्या' कहती हैं। नैषध० सर्ग (११। ६६) में जो उन्होंने लिखा है, **'देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्। अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्॥'** अर्थात् जिसने विष्णुभगवान्‌का वामभाग पवित्र किया है, वह वाग्देवी दमयन्तीजीसे बोली कि शत्रुओंके लिये दयारहित कृपाण जिसने धारण किया है, ऐसे इस राजाके पाणिग्रहणसे गुणसमूहोंको अनुगृहीत करो। इसपर वाणीने 'हर्ष' से कुपित होकर कहा कि तुमने मुझे विष्णुपत्नी कहकर लोकप्रसिद्ध मेरा कन्यात्व लुप्त कर दिया। इसका उत्तर उन्होंने दिया कि मुझपर क्यों कोप करती हो? एक अवतारमें तुमने नारायणको अपना पति बनाया है ऐसा व्यासजीने फिर क्यों कहा? **'किमर्थमेकस्मिन्नवतारे नारायणं पतिं चकृषी त्वम्, पुराणेष्वपि विष्णुपत्नीति पठ्यसे। ततः मन्ये किमिति कुप्यसि॥'**

कन्याका जबतक व्याह नहीं होता तबतक वह पिताके घरमें ही रहती है। सरस्वतीका ब्रह्मलोकमें ही रहना पाया जाता है। यथा—*'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥'* (१। ११) इससे वह कुमारी कही जा सकती है।

ये ब्रह्माजीकी कन्या हैं। यह बात पद्मपुराण सृष्टिखण्ड पुष्करक्षेत्रमें ब्रह्माजीके यज्ञके समय पुलस्त्यजीके वचनोंसे भी स्पष्ट है। भगवान् विष्णुने सरस्वतीजीसे वड़वानलको ले जाकर दक्षिण समुद्रमें डालनेको कहा तब सरस्वतीने कहा, 'मैं स्वाधीन नहीं हूँ। आप इस कार्यके लिये मेरे पिता ब्रह्माजीसे अनुरोध कीजिये। पिताकी आज्ञा बिना मैं एक पग भी कहीं नहीं जा सकती।' तब देवताओंने ब्रह्माजीसे कहा—'पितामह! आपकी कुमारी कन्या सरस्वती बड़ी साध्वी है। उसमें किसी प्रकारका दोष नहीं देखा गया है।' देवताओंकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजीने सरस्वतीको बुलाकर गोदमें बिठाकर मस्तक सूँघा और कहा, 'बेटी! तुम समस्त देवताओंकी रक्षा करो'। इससे भी 'कन्या' और 'कुमारी' होना सिद्ध हुआ।

महाकवि हर्षके कथनका प्रमाण खोजते-खोजते ब्रह्मवैवर्तमें मिला। उसके ब्रह्मखण्ड अ० ३ में एक कल्पमें सरस्वतीजीका जन्म परमात्माके मुखसे लिखा है और प्रकृतिखण्डमें इनको भगवान्‌की एक स्त्री भी कहा है जो गङ्गाके शापसे और भगवान्‌के फैसलेसे मर्त्यलोकमें अपने एक अंशसे सरस्वती नदी हुई और एक अंशसे ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माकी स्त्री हुईं। यथा—**'लक्ष्मीः सरस्वती गङ्गा तिस्रो भार्या**

हरेरपि।' (२। ६। १७) 'गङ्गाशापेन कलया भारतं गच्छ भारति। स्वयं च ब्रह्मसदनं ब्रह्मणः कामिनी भव॥' (२। ६। ५३) 'भारती यातु कलया सरिद्रूपा च भारतम्। अर्द्धांशा ब्रह्मसदनं स्वयं तिष्ठतु मद्गृहे॥' (२। ६। ८५) इस तरह किसी कल्पमें सरस्वतीका भगवान्‌की स्त्री होना और किसीमें ब्रह्माकी स्त्री होना भी पाया जाता है। इसीसे भगवान्‌को 'वागीश' एवं 'वाचस्पति' भी कहा गया है और सरस्वतीको ब्रह्माणी भी कहा गया है। कल्पभेद होनेसे शङ्का नहीं रहती।

यहाँ 'वाणी' से अधिष्ठातृ देवता हस्तपादादियुक्तमूर्त्ति अभिप्रेत है। 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती।' (अमरकोश ६। १) ये सरस्वती देवीके नाम हैं। ब्रह्मवैवर्त पु० ब्रह्मखण्ड अ० ३ में इनको शुक्लवर्णा, पुस्तकधारिणी, अत्यन्त रूपवती, श्रुतियों, शास्त्रोंकी स्रष्ट्री और विद्वानोंकी श्रेष्ठ जननी, वागधिष्ठातृदेवी कहा गया है। और, पौराणिक नानाशास्त्रीविरचित प्रतिवार्षिक पूजाकथा-संग्रह द्वितीय भाग (काशीज्योतिषप्रकाश सं० १९९०) में सरस्वतीके स्वरूपका उल्लेख इस प्रकार है—'प्रणवासनसंरूढा, अंकुश-अक्षसूत्र-पाशपुस्तकधारिणी, चन्द्रार्धकृतशेखरा, जटाकलापसंयुक्ता, त्रिलोचना, महादेवी' इत्यादि।

८ वन्दना (वन्दे वाणीविनायकौ) इति

(१) मङ्गलाचरणकी भाँति प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजीने वन्दनामें भी लोकोपकारहेतु एक परम्परा स्थापित की है। परन्तु जिस प्रकार एक योग्य कुलाल साधारण मृत्पिण्डसे अनेकों प्रकारके पात्रोंको अपनी इच्छानुसार निर्माण करता है, उसी प्रकार इस मानवमानसशास्त्रवेत्ता ऋषिने लोक और वेदके उत्तम नियमोंको किस चतुरता और साधुताके साथ अपने इच्छानुसार भक्ति और श्रद्धारूपमें प्रकट किया है, इसे कोई चतुर भक्त ही चिन्तन कर सकता है।

'वर्णानाम्' आदिका कर्ता कहकर गोस्वामीजीने वन्दनाका आरम्भ किया है। उनकी हार्दिक इच्छा है कि उनके इस ग्रन्थमें वर्ण, अर्थ, रस और छन्द अच्छे-अच्छे होवें (अर्थात् अक्षर मधुर हों, मैत्रीयुक्त हों, प्रसादगुणयुक्त हों। थोड़े ही अक्षरोंमें बहुत और विलक्षण अर्थ भर दिये जायँ। शृङ्गारादि रस अपने अनुभाव, विभाव, संचारी और स्थायी अङ्गोंसे परिपूर्ण हों। छन्द ललित हों इत्यादि।) और यह ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो तथा स्वयं ग्रन्थकर्ताको एवं इस ग्रन्थके कहने-सुननेवाले वक्ताओं और श्रोताओं तथा पठन-पाठन करनेवालोंको मङ्गलकारी हो। अर्थात् सबको मङ्गलदाता हो। सरस्वतीजीका मुख्य धर्म वर्णादिका देना है और श्रीगणेशजीका मुख्य धर्म मङ्गल देना है। वर्णादि एवं छन्दादिकी दात्री श्रीसरस्वतीजी हैं और मङ्गलके दाता गणेशजी हैं। यथा—*'मोदक-प्रिय, मुद-मंगल-दाता।'* (विनय १) पुनः, कवित्वशक्तिकी दात्री भी श्रीसरस्वतीजी ही हैं। महाकालसंहितामें इसका प्रमाण है और इस बातको सब जानते ही हैं। एवं श्रीगणेशजी विघ्नविनाशक और मङ्गलकर्ता हैं। प्रमाण यथा—'सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि त्वत्प्रसादाद्गणाधिप॥ ……ये भजन्ति च त्वां देवं तेषां विघ्नं न विद्यते॥ सर्वमङ्गलकार्येषु भवान् पूज्यो जनैः सदा। मङ्गलं तु सदा तेषां त्वत्पादे च धृतात्मनाम्॥' (सत्योपाख्याने पू० अ० २३। ११, १३-१४) इसी अभिप्रायसे उन्होंने वर्णादिकी कर्त्री एवं दात्री और कवित्वशक्ति प्रदान करनेवाली सरस्वतीजीकी और 'विघ्नविनाशक मंगलदाता' गणेशजीकी वन्दना आदिमें की।

बाबा रामप्रसादशरणजीके मतानुसार वर्ण, छन्द और काव्यके नवों रसोंकी चाह छन्दार्णव पिंगलके ज्ञाता कवियोंको, अर्थकी पण्डितोंको, भक्तिके पञ्चरसकी प्रेमियोंको और मङ्गलकी जीवमात्रको होती है। श्रीरामचरितमानसमें इन्हीं पाँचोंकी निर्विघ्न समाप्तिकी आशा मनमें रखकर श्रीगोस्वामीजी 'वन्दे वाणी-विनायकौ' ऐसा कहते हैं।

☞ सारांश यह कि वाणी-विनायककी वन्दनाद्वारा इस ग्रन्थको चौदहों विद्याओंका निचोड़ और समस्त मङ्गलोंकी खानि बनानेकी प्रार्थना अभिप्रेत है। (गौड़जी)

(२) प्रथम कार्य है रामचरित्रका बनाना। अत: प्रथम सरस्वतीजीकी वन्दना की। सरस्वतीजी श्रीरामचरित्रकी दात्री हैं। तत्पश्चात् उसके विघ्ननिवारणार्थ गणेशजीकी वन्दना की। (पं० रामकुमारजी)

'वाणी'को 'विनायक' के पहले रखने तथा उनकी गणेशजीके साथ वन्दना करनेके भाव महानुभावोंने अनेक कहे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) वाणी और भक्ति नारीवर्ग और विनायक और ज्ञान पुरुषवर्ग हैं। 'वाणी' को प्रथम रखकर दर्शाया है कि इस ग्रन्थमें भक्तिकी प्रधानता होगी। (ख) प्रथम वाणीकी वन्दना करके उनसे गणेशजीकी वन्दनाके हेतु वाचाशक्ति प्राप्त की। (ग) आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी लिखते हैं कि **'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।'** (वाल्मी० १। ४। ७) अर्थात् रामायणमें श्रीसीताजीका ही महान् चरित है। (मं० श्लो० ५ देखिये) गोस्वामीजी भी कहते हैं, ***'सती सिरोमनि सियगुनगाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा॥'*** (१। ४२) इसीसे उन्होंने सर्वत्र श्रीसीताजीकी वन्दना श्रीरामजीसे पहले की है। सरस्वतीजी विशेष रूपसे श्रीजीकी सेवा करती हैं। यथा—***'लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं।'*** (१। ३२७) निष्कर्ष यह कि रामचरितमें श्रीजीका चरित प्रधान है और वाणीजी प्रधान रूपसे श्रीजीकी सेविका हैं; इसीसे प्रथम वाणीकी वन्दना की।

(३) वाणी और विनायक दोनोंकी एक साथ वन्दना करनेके भाव—(क) दोनों मङ्गल आदिके कर्ता हैं। (ख) वाणीसे गुणोंकी उत्पत्ति करके गणेशजीको उनका रक्षक साथ-ही-साथ कर दिया है। (ग) दोनों श्रीरामोपासक हैं। यथा—***'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ।'*** (१। १९) ***'एकटक रही रूप अनुरागी'*** (१। ३४९) ***'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई'''''।'*** (१। ११) अनुराग अपने ही इष्टमें होता है। इसीसे तो सरस्वती मनोहर जोड़ीको एकटक देखते ही रह गयीं और जब कोई कवि रामचरित कहलानेके लिये स्मरण करता है तब ब्रह्मभवन छोड़कर चली आती हैं। गणेशजी भी रामोपासक हैं, यह एक तो इसीसे स्पष्ट है कि वे रामनामके प्रभावसे प्रथम पूजित हुए। दूसरे सत्योपाख्यानमें उनको स्पष्ट हरिभक्त कहा है। यथा—**'विष्णुभक्तो गणाधीशो हस्ते परशुधारकः।'** (घ) जैसे श्रीरामचरित-सम्भाषणमें श्रीसरस्वतीजी अद्वितीय हैं, वैसे ही श्रीगणेशजी लिखनेमें। जो उनके मुखारविन्दसे निकला उसे गणेशजीने तुरंत लोकप्रवृत्तिके लिये स्पष्ट अक्षरोंमें लिखकर दृष्टिगोचर कर दिया, इसीसे उनका परस्पर सम्बन्ध भी है (तु० प० ४। ७। १५०-१५१) (ङ) वाणी श्रीकिशोरीजीकी और गणेशजी श्रीरामजीके सम्बन्धी हैं। श्रीसीतारामजीके सम्बन्धसे दोनोंको साथ रखा। (च) श्रीसरस्वतीजीका वास कवियोंके अन्त:करणमें रहता है और श्रीसरकार (श्रीरामजी) की आज्ञानुसार जैसी ये प्रेरणा करती हैं वैसे ही शब्द उनके मुखारविन्दसे निकलते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमानमें श्रीरामयशगानका कवियोंने जो साहस किया है और करेंगे वह इन्हींकी कृपासे। ये समस्त श्रीरामचरित्रकी ज्ञात्री ठहरीं, क्योंकि जिस देश-कालमें जो कुछ जिससे कहलाया वह इन्होंने ही। गोस्वामीजीको श्रीरामचरित कथन करना है, अत: उनकी वन्दना सबसे प्रथम उचित ही है। यह कर्मभूमि है। जो वेदविहित कर्म हैं, उनमें सबसे प्रथम पूज्य श्रीगणेशजी ही हैं। इसीसे इनकी वन्दना करते हैं। (रा० प्र० श०)

(४) अब प्रश्न होता है कि 'जब श्रीसरस्वतीजी ही समस्त रामयशकी कहलानेवाली हैं तो सब कवियोंके मुखारविन्दसे एक ही अक्षर और एक ही भाव निकलने चाहिये। परन्तु सबका काव्य समान नहीं। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ। यह सब भेद क्यों?' इसका उत्तर यह है कि प्रभु श्रीरामजीने जब जहाँ जैसा चाहा कहलाया; क्योंकि श्रीरामजी ही उसके नियामक हैं। यथा—***'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।'***, ***'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥'*** (१। १०५) श्रीसरस्वतीजी सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होकर महाप्रलयपर्यन्त रहती हैं। इनके रहतेभरमें जो लीला हुई उसकी ज्ञात्री वे अवश्य हैं; परन्तु इनके पूर्व या परकी जो लीला है, उसका ज्ञान इनको नहीं। वह जिनकी लीला है वे ही जब अपनी कृपासे जो बतलाते हैं तब उसीके अनुकूल वे कवियोंके हृदयमें प्रकाश करती हैं। इसीसे श्रीरामचरितमें भेद देखनेमें आता है। कौन जाने किस कविसे

किस कल्पकी लीला कथन करायी गयी है? इसी परस्पर भेदसे ग्रन्थकार कहते हैं, *'राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार। सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार॥'* (१। ३३)

नोट—९ यहाँ कोई-कोई महानुभाव यह शङ्का करते हैं कि 'अपने इष्टदेवको' छोड़कर 'वाणी-विनायक'की वन्दना आदिमें क्यों की गयी?' इस शङ्कामें ही दूषण है। इसमें यह मान लिया गया है कि अनन्य उपासक अपने इष्टदेवके सिवा किसी औरकी वन्दना नहीं करता। यह भारी भूल है। अनन्यताका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न बना देता है। शैतानने इसी तरह अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न बनाया और पतित हुआ। अनन्य उपासक सम्पूर्ण जगत्को 'सियाराममय' देखता है और सबकी वन्दना करता है। वह माता, पिता, गुरुको ही नहीं वरञ्च अपनेसे छोटे-से-छोटेकी भी वन्दना करता है। फिर गणेशजीकी तो बात ही क्या ? उपर्युक्त शङ्काका समाधान यों भी किया जाता है कि—(१) काव्यरचनाके लिये सरस्वतीजीके स्मरण और मङ्गल तथा विघ्नविनाशनके लिये श्रीगणेशजीके स्मरणकी रीति सदासे ही व्यवहृत होती आती है। श्रीरामजीकी ओरसे जो जिस कार्यके अधिकारपर नियुक्त है, उस कार्यके लिये उसकी प्रार्थना करनेमें हानि नहीं है। उपर्युक्त रीतिकी वन्दनासे उनके अनन्यभावमें कुछ न्यूनता नहीं आती। विनय-पत्रिकामें भी श्रीमद्गोस्वामीजीने इसी भावसे श्रीविघ्नविनाशक शुभमूर्ति गणेशजीकी वन्दना प्रथम ही की है। (२) श्रीरामभक्तिके नातेसे 'वाणी-विनायक'की वन्दना की गयी है। श्रीगणेशजी रामभक्त हैं। वे श्रीरामनामके प्रतापसे ही प्रथम पूजनीय हुए। यथा—*'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ'* (१। १९) और श्रीसरस्वतीजीकी भक्ति इससे स्पष्ट है कि *'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ रामचरितसर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाइ न कोटि उपाए॥'* (१। ११। ४-५) (३) अनन्यके लक्षण तो श्रीरामजीने श्रीहनुमान्‌जीसे ये बताये हैं कि *'सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* (४। ३) और श्रीशिवजी भी कहते हैं कि *'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज-प्रभु-मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (७। ११२) श्रीगोस्वामीजीका भी प्रभुके प्रति यही भाव है। उन्होंने निज इष्टकी वन्दना सर्वरूप-रूपी, सर्वशरीर-शरीरी, सर्व-अंश-अंशी, सर्वनाम-नामी, सर्वप्रकाश्य-प्रकाशक इत्यादि भावोंसे ही की है। जैसा कि उनके *'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥ देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब। बंदउँ किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥ ......सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥ जानि कृपाकर किंकर मोहू।'* (१। ६—८) *'मोहू'* शब्द भी यह कह रहा है कि आप सब श्रीरामजीके किंकर हैं और मैं भी हूँ। रामकिंकर तथा श्रीसीताराममय जानकर ही मैं आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। इस प्रकार भी वन्दना उनकी अनन्यताके परिपुष्टकारी भावका ही द्योतक है। (४) **'सीतांशसम्भवां वाणीं रामांशेन विनायकम्। श्रीसीतारामांशसम्भूतौ वन्दे वाणीविनायकौ॥'** (अज्ञात)। यह श्लोक भी वन्दनाके श्लोकमें अनन्यताका विश्वसनीय साक्षी है। (श्रीशुकदेवलाल) (५) और भी भाव वा समाधान मं० श्लोक ६ और मं० सोरठा १ में दिये गये हैं। ग्रन्थकारने इन सबोंकी वन्दना करके श्रीरामनाम, श्रीरामरूप, श्रीरामचरित इत्यादिकी महिमा दिखायी है। परात्पर ब्रह्म प्रभु श्रीसाकेतविहारीजीतक पहुँचनेका मार्ग दर्शाया है। (६) 'इस ग्रन्थमें श्रीरामचरितके वर्णन करनेवाले तीन वक्ता और हैं। उन सबोंने अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथजीका ही मङ्गलाचरण किया है। यथा—श्रीयाज्ञवल्क्यजी, *'प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा॥'* (१। १०५। ७) श्रीशिवजी—*'बंदौं बालरूप सोइ रामू। ......द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥ करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥'* (१। ११२) श्रीभुशुण्डिजी—*'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥ प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी॥'* (७। ६४) तब भला गोस्वामीजी अपने इष्टदेवको छोड़कर क्यों वाणी-विनायककी वन्दना करने लगे ?' ऐसा सोचकर कोई-कोई रामानन्य महानुभाव इस शङ्काके निराकरणमें 'वाणी' का अर्थ सरस्वती न करके 'श्रीसीताजी' ऐसा अर्थ करते हैं और 'विनायक' का अर्थ 'श्रीरघुनाथजी' करते हैं। इस तरहसे कि 'सुन्दरी तन्त्र' वाले

'श्रीजानकीसहस्रनाम' में वाणी भी श्रीसीताजीका एक नाम दिया गया है। यथा—'**ब्रह्माणी बृहती ब्राह्मी ब्रह्मभूता भयावनी:**', '**वाणी चैव विलासिनी**' और 'विनायक' का अर्थ '**विशेष नायक**' करते हैं। श्रीरामचन्द्रजी सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंके नायक वा स्वामी हैं। यथा, *'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक।'* (६। ६२) *'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥'* (६। २२) (७) बाबा रामप्रसादशरणजी (दीन) कहते हैं कि श्रीगोस्वामीजीकी प्रतिज्ञा है कि *'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥'* (१। १३) 'वाणी-विनायक' की वन्दना करता हूँ यह पुराणोंकी रीतिसे नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण हुआ। पुनः, इसीमें वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण कहते हैं। ग्रन्थमें जो प्रतिपाद्य विषय है उसको परमात्मासे अभेद कथन करके उसकी वन्दना करना वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण है। यद्यपि नाम, रूप, लीला और धाम—इन चारोंका यथार्थ स्वरूप इस ग्रन्थमें कथन किया गया है, तथापि अधिकतर सुगम नामको जानकर 'विषय' नामहीको कहते हैं। यथा—*'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुतिसारा॥'* (१। १०) सुगमताके कारण नामके प्रसंगमें नामकी महिमा रूपसे अधिक कही गयी है, परन्तु वास्तवमें नाम-रूपमें अभेद है। श्रीरामनाम ही ग्रन्थका विषय है; इससे ग्रन्थकर्ता नामहीकी वन्दना यहाँ कर रहे हैं, इस तरह कि '**वन्दे वाणीविनायकौ**'=वाणीके वि (विशेष) दोनों नायक। अर्थात् रकार और मकार दोनों वर्ण जो वाणीके विशेष नायक हैं, उनकी वन्दना करता हूँ। 'विशेष नायक' का भाव यह है कि सामान्य नायक ब्रह्माजी हैं और विशेष श्रीरामजी हैं। यथा—*'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥'* (१। १०५) '**विनायक**' का यह अर्थ लेनेसे श्लोकके अर्थ दो प्रकारके हैं—(क) वाणीके विशेष नायक दोनों वर्ण 'रा', 'म' जो वर्णसमूह, अर्थसमूह, रससमूह, छन्दसमूह और मङ्गलसमूहके करनेवाले हैं; उनकी वन्दना करता हूँ। अथवा, (ख) वाणीके स्वामी 'रा', 'म' जिनमें वर्णसमूह (अर्थात् रेफ, रकारकी अकार, दीर्घाकार इत्यादि षट् कलाएँ) हैं, अर्थसमूह हैं (इसीसे प्रणव और त्रिदेवकी उत्पत्ति है), जिनसे सब रसों और गायत्री आदि छन्दोंकी उत्पत्ति है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

नोट—१० प्राचीन ग्रन्थकर्ताओंकी रचनाओंमें यत्र-तत्र देखा जाता है कि प्रारम्भमें ही ग्रन्थकार सूक्ष्म रीतिसे ग्रन्थके विषयका परिचय दे देता है। उसी रीतिके अनुसार, श्रीमानसीवन्दन पाठकजीका मत है कि श्रीरामचरितमानसके इस प्रारम्भिक प्रथम श्लोकमें इस ग्रन्थके सप्त सोपानोंके विषयका परिचय मिलता है। इस तरह कि—(क) '**वर्णानाम्**' से बालकाण्डकी कथाका परिचय दिया। क्योंकि जिसकी कोई जाति नहीं, वह ब्रह्म क्षत्रिय 'वर्ण' हुआ और उसी सम्बन्धसे श्रीविश्वामित्रजीका आगमन, अहल्योद्धार, यज्ञरक्षा और विवाह आदि व्यवहार हुए। (ख) '**अर्थसंघानाम्**' से अयोध्याकाण्डकी कथा जनायी; क्योंकि इसमें पहले श्रीदशरथमहाराजके रामराज्याभिषेकमनोरथसिद्ध्यर्थ, फिर देवमनोरथसिद्ध्यर्थ, फिर भरतराज्यार्थ, श्रीरामसङ्गवनगमनार्थ, श्रीरामजीके पुनरयोध्यागमनार्थ इत्यादि अर्थसमूहोंके साधन हुए। (ग) '**रसानाम्**' से अरण्यकाण्डकी कथाका संकेत किया। क्योंकि 'रस' का अर्थ 'पराक्रम' भी है। यथा, '**शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः।**' (अमरकोश ३। ३। २२६) वीर्य और पराक्रम पर्याय हैं। और इस काण्डमें खर-दूषण, त्रिशिरा, रावणसमान बली वीर और देवता-मनुष्यादिसे अमर सेनापतियों तथा जनस्थानमें रहनेवाले उनके चौदह हजार राक्षसोंको श्रीरामजीने अकेले अपने ही पराक्रमसे नाश किया। (घ) '**छन्दसाम्**'से किष्किन्धाकी कथा सूचित की; क्योंकि छन्द करोड़ों जातिके हैं और यहाँ वानरी सेना भी करोड़ों जातिकी एकत्र हुई है। पुनः, 'छन्दस्' का अर्थ 'स्वच्छन्द', 'स्वतन्त्र' भी है; यथा, '**छन्दः पद्ये च वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः।**' इति मेदिनी। '**छन्दः पद्येऽभिलाषे च**' (अमरकोश ३। ३। २३९)। और छन्दका अर्थ 'आधीन' भी है। यथा, '**अभिप्रायवशौ छन्दौ।**' (अमरकोश ३। ३। ८८)। अबतक (अरण्यकाण्डमें) श्रीरामजी स्वयं श्रीजानकीजीको खोजते-फिरते रहे थे। अब सुग्रीव तथा सारी वानरी सेना उनके अधीन हो जानेसे वे सीताशोधके कार्यसे निश्चिन्त हुए, यह कार्य अब सुग्रीवके द्वारा होगा। इस तरह शत्रुको जीतनेके लिये

श्रीरामजी सेनासहित '**स्वतन्त्र**' हुए। (ङ) '**अपि**' से सुन्दरकाण्ड। क्योंकि इस काण्डमें श्रीसीताजीका लङ्कामें होना निश्चित हुआ। '**अपि**' निश्चयवाचक है। (च) '**मङ्गलानाम्**' से लङ्काकाण्ड कहा, क्योंकि रावणादिके वधसे जगत्‌का मङ्गल हुआ। (छ) '**कर्त्तारौ**' से उत्तरकाण्ड जनाया, क्योंकि इसमें श्रीरामजीने चक्रवर्ती राजा होकर हुकूमत की और राजाका '**कर्त्तव्य**' पालन किया।

११ इसी प्रकार मानसप्रचारक श्रीरामप्रसादशरणजीका मत है कि ग्रन्थके आदिमें कवि वेदोंके छहों अङ्गों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषका ग्रहण करते हैं। (शिक्षा आदिका तात्पर्य, यथा—*'वेद पठनकी विधि सबै 'शिक्षा' देत बताय। सब कर्मनकी रीति जो 'कल्प' हि दे दर्शाय॥ शब्द शुद्धाशुद्धको ज्ञान 'व्याकरण' जान। कठिन पदनके अर्थको कौ 'निरुक्त' बखान॥ अक्षर मात्रा वृत्तको ज्ञान 'छन्द' सो होय। 'ज्योतिष' काल ज्ञान इमि वेद षडङ्ग गनोय॥'*) '**वाणी**' से शिक्षाका ग्रहण हुआ; क्योंकि विद्या और जितनी उसकी विधि है, वह भी इन्हींकी कृपासे प्राप्त होती है। ऐसे ही '**विनायक**', कर्मकाण्डके आदिमें पूज्य श्रीगणेशजीको 'कल्प'की संज्ञा किया, क्योंकि 'कल्प' से कर्मोंकी रीति मालूम होती है। '**वर्णानाम्**' से व्याकरणको लिया, क्योंकि इससे शब्दके शुद्धाशुद्धका ज्ञान होता है। '**अर्थसंघानाम्**' से निरुक्त, क्योंकि इनसे ही कठिन पदोंके अर्थका ज्ञान होता है। '**छन्दसाम्**' से छन्द और '**मङ्गलानां च कर्त्तारौ**' (अर्थात् तीनों कालोंमें मङ्गल करनेवाले) से 'ज्योतिष' (कालज्ञान) का ग्रहण हुआ। 'रस' का ग्रहण सबके साथ है। जब वेदके समस्त अङ्गोंका ग्रहण हुआ तो सब वेद इसमें आ गये। (तु० प० ४। ७। १५४)

१२ सूक्ष्म रीतिसे इस श्लोकसे षट्शास्त्रोंका भी ग्रहण करते हैं। इस तरह कि '**वर्णानाम्**' से 'न्याय'; क्योंकि जैसे शुद्धाशुद्ध शब्दका ज्ञान पाण्डित्यका कारण है, वैसे ही न्यायको जाने बिना वक्तृत्वका विशेष अभ्यास कठिन है। ग्रन्थमें न्याय आदिका मत कहेंगे। यथा—*'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।'* (१। ३४१) '**अर्थसंघानाम्**' से वेदान्तका ग्रहण हुआ। जितने भी इतिहास, पुराण आदि हैं, उन सबोंमें तीन ही प्रकारके वाक्य हैं—रोचक, (स्वर्गादिका लालच दिखाकर वेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले), भयानक (नरकादिका भय दिखाकर निषिद्ध कर्मोंसे निवारण करनेवाले) और यथार्थ (जीव, माया और ईश्वरके यथार्थ स्वरूप दिखाकर निजानन्दकी, सच्चे सुखकी प्राप्ति करानेवाले)। '**अर्थसंघानाम्**' से वेदान्तको लिया; क्योंकि कहीं ध्वनि अवरेबद्वारा, कहीं गौण रीतिसे और कहीं मुख्य तात्पर्यसे अर्थसमूह निश्चय करके मोहजनित भ्रमको अन्तःकरणसे निर्मूल करके अपने सहज स्वरूपकी प्राप्ति करा देना ही इसका अभिप्राय वा उद्देश्य है। '**रसानाम्**' से पातञ्जल 'योगशास्त्र' का ग्रहण हुआ; क्योंकि रसका वास्तविक अनुभव चित्तकी एकाग्रताहीमें हो सकता है और चित्तकी वृत्तिका निरोध ही योग है। '**छन्दसाम्**' से 'सांख्य'; क्योंकि जैसे गायत्रीमें परमात्मासे प्रार्थना है कि हमारी बुद्धिको प्रेरणा कर शुभकार्यमें लगावें (परमात्माकी ही प्रेरणासे बुद्धि शुभ कर्म करती है), वैसे ही सांख्यका मत है कि पुरुषकी प्रेरणासे प्रकृति सब काम करती है। '**मङ्गलानाम्**' से वैशेषिक; क्योंकि वैशेषिकका मत है कि '**समय एव करोति बलाबलम्**'। अर्थात् कालकी प्रेरणासे जीव नाना प्रकारके सुख-दुःख भोगता है। *'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता।'* (७। ४१) और जब श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग हो गया तब तो फिर चाहे जहाँ रहे सर्वदा मङ्गल-ही-मङ्गल होता रहता है। कालका जोर (प्रभाव) जैसा सब जीवोंपर है वैसा ही हरिभक्तोंपर नहीं रहता। यथा—*'आन जीव इव संसृत नाहीं।'* (७। ७८) '**वन्दे वाणीविनायकौ**' (अर्थात् मैं वाणीके दोनों विशेष नायक दोनों वर्ण '**रा**', '**म**' की वन्दना करता हूँ। नाम-नामीमें अभेद है।) इससे जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा इसमें आ गया। क्योंकि चारों भ्राताओंने एक-एक धर्म ग्रहण किया है। श्रीरघुनाथजीने श्रुति-स्मृति अनुकूल सामान्य धर्म, लक्ष्मणजीने श्रीभगवत्-सेवाधर्म जो मुख्य धर्म है, श्रीभरतजीने भगवदाज्ञाप्रतिपालनधर्म और श्रीशत्रुघ्नजीने भागवत-सेवाधर्म ग्रहण किया। (रा० प्र० श०)

१३ कुछ महानुभावोंने यह शङ्का की है कि 'गोस्वामीजीके इष्ट 'रामनाम' हैं। यथा, *'रामकी सपथ*

सरबस मेरें रामनाम।' (क० ७। १७८) *'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो। अपनो भलो राम-नामहि ते......'* (विनय० २२६) तो 'व' अक्षरसे ग्रन्थका आरम्भ क्यों किया ?

यह शङ्का भी व्यर्थ-सी ही जान पड़ती है, क्योंकि ऐसी ही शङ्का अन्य अक्षरोंमें भी हो सकती है। पर महानुभावोंने इसके भी अनेक भाव कहे हैं जिनमेंसे कुछ यहाँ दिये जाते हैं—(१) 'वर्ण' प्रथम शब्दमें रेफ है ही जो कविको इष्ट है। (२) ग्रन्थकी समाप्तिमें भी 'व' ही अक्षर देकर (यथा, '**दह्यन्ति नो मानवाः।**') ग्रन्थको सम्पुटित किया है। मङ्गलाचरणके प्रथम श्लोकमें 'वाणी' और 'विनायक' की वन्दना है और इन दोनोंके प्रथम वर्ण 'व' हैं। इसलिये इन्हीं दोनोंके आदिम अक्षरोंका सम्पुट देकर मानो ग्रन्थको इनसे प्रसादित किया है। (३) 'वाणी और विनायक' दोनोंका बीज वकार है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है। यथा—*'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे।'* (२। १८४) वह परिपूर्ण फल देता है और शीघ्र। अतएव बीजसे ग्रन्थको प्रारम्भ करके बीजपर ही समाप्त किया। (पं० रामकुमारजी) (४) तन्त्रशास्त्रानुसार 'व' अमृत बीज है। इसका सम्पुट देकर सूचित किया है कि इस ग्रन्थके अध्ययन और श्रवण करनेसे अमरपदरूपिणी श्रीरामभक्ति प्राप्त होती है। (पं० रामवल्लभाशरणजी) (५) इस ग्रन्थका वैष्णवीय ग्रन्थ होना, ग्रन्थकर्त्ताका वैष्णव और ब्राह्मणवर्ण होना जनाया। (६) 'व' से प्रारम्भ करके अपनेको वाल्मीकिजीका अवतार सूचित किया। (७) इस सोपानका 'बालकाण्ड' नाम है। इसमें 'बाल', 'विवाह' लीला वर्णन करेंगे, अतएव काण्डके आदिमें इनका 'व' अक्षर दिया।

१४ मानसीवन्दनपाठकजी लिखते हैं कि जैसे वाल्मीकीय रामायण गायत्री २४ (चौबीस) अक्षर और मङ्गलाचरण द्वादशाक्षर मन्त्रार्थपर रचे गये, वैसे ही श्रीरामचरितमानस श्रीराम-षडक्षर ब्रह्मतारक मन्त्रपर है, परन्तु गुप्तार्थ है। '**वर्णानाम्**' से मकार, अकार बिन्दुसहित रामबीज है। शेष पाँच अक्षर पाँच काण्डोंमें हैं। रहा अन्तका विसर्ग, सो उत्तरकाण्डमें है। [यह युक्ति ठीक-ठीक समझमें नहीं आती। अनुमान होता है कि '**वर्णानाम्**' में रेफ है और अन्तमें 'आ' और 'म्' है इसीसे 'रां' बीज सूचित किया।]

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥ २॥

शब्दार्थ—याभ्यां=जिन दोनोंके। **पश्यन्ति**=देखते हैं। **सिद्धाः**=सिद्धलोग। **स्वान्तःस्थमीश्वरम्=स्व-अन्तःस्थम्-ईश्वरम्**=अपने अन्तःकरणमें स्थित ईश्वरको।

अन्वय—अहं श्रद्धाविश्वासरूपिणौ भवानीशङ्करौ वन्दे याभ्यां विना सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरं न पश्यन्ति।

अर्थ—१ मैं श्रद्धाविश्वासरूपी श्रीपार्वतीजी और श्रीशङ्करजीकी वन्दना करता हूँ (कि) जिनके बिना सिद्धलोग भी अपने अन्तःकरणमें स्थित ईश्वरको नहीं देख सकते हैं॥ २॥

अर्थ—२ जिनके बिना अपने हृदयमें स्थित ईश्वरको सिद्धलोग भी नहीं देख सकते, ऐसे (जो) श्रद्धा-विश्वास (हैं उन) के (मूर्तिमान्) रूप भवानी-शङ्करकी वन्दना करता हूँ॥ २॥

नोट— १ यह वन्दना किसकी है? श्रद्धा-विश्वासकी या भवानी-शङ्करजीकी? इसमें मतभेद है। कारण कि उत्तरार्धमें जो महत्त्व दर्शाया गया है, वह तो श्रद्धा-विश्वासका है और '**रूपिणौ**' शब्दका प्रयोग किया गया है, जिससे प्रधानता श्रद्धा-विश्वासकी पायी जाती है। इसीसे हमने दो प्रकारसे अर्थ किया है। अर्थ १ में श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, उन्हींको भवानी-शङ्कर मानकर वन्दना की गयी है। अर्थ २ में भवानी-शङ्करकी वन्दना है, उन्हींको श्रद्धा-विश्वासमय बताया गया है।

२ वाणी और विनायकजीकी वन्दना प्रथम श्लोकमें कर लेनेके पीछे दूसरे ही श्लोकमें श्रद्धा-विश्वासरूप भवानी-शङ्करकी वन्दना की गयी है, इसका कारण यह है कि अज्ञानका नाश और ज्ञानकी प्राप्ति बिना श्रद्धा और विश्वासके असम्भव है, जैसा भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें कहा है। यथा, '**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।**' (४। ३९) अर्थात् श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। अथवा, '**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥' (४। ४०) अर्थात् अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष नाशको प्राप्त होता है और संशययुक्त पुरुषके लिये न सुख है न इहलोक है और न परलोक ही है। (डाक्टर माताप्रसाद गुप्त) महाभारत शान्तिपर्व तुलाधार-जाजलिसंवादमें कहा है कि यदि कर्मोंमें वाणीके दोषसे मन्त्रका ठीक उच्चारण न हो सके और मनकी चञ्चलताके कारण इष्टदेवके ध्यानमें विक्षेप आ जाय तो भी यदि श्रद्धा हो तो वह उस दोषको दूर कर देती है। किन्तु श्रद्धाके न रहनेपर केवल मन्त्रोच्चारण और ध्यानसे ही कर्मकी पूर्ति नहीं होती। श्रद्धाहीन कर्म व्यर्थ हो जाता है। श्रद्धालु मनुष्य साक्षात् धर्मका स्वरूप है। अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे मुक्त करनेवाली है। श्रद्धा सबकी रक्षा करती है। उसके प्रभावसे विशुद्ध जन्म प्राप्त होता है। ध्यान और जपसे भी श्रद्धाका महत्त्व अधिक है। यथा, **'वाग्वृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धं च भारत। श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसौ न कर्म त्रातुमर्हति॥' '……शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्य चाशुचेः॥ देवा वित्तममन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि।' '……अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी। जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णामिव त्वचम्॥'** (महाभा० शा० प० अ० २६४। ९, १०, ११, १५)। पद्मपुराण भूमिखण्ड अ० ९४ में कहा है कि श्रद्धा देवी धर्मकी पुत्री हैं, विश्वको पवित्र एवं अभ्युदयशील बनानेवाली हैं, सावित्रीके समान पावन, जगत्‌को उत्पन्न तथा संसारसागरसे उद्धार करनेवाली हैं। आत्मवादी विद्वान् श्रद्धासे ही धर्मका चिन्तन करते हैं। अकिञ्चन मुनि श्रद्धालु होनेके कारण ही स्वर्गको प्राप्त हुए हैं। यथा— **'श्रद्धा धर्मसुता देवी पावनी विश्वभाविनी। सावित्री प्रसवित्री च संसारार्णवतारिणी। श्रद्धया ध्यायते धर्मो विद्वद्भिश्चात्मवादिभिः॥ निष्किञ्चनास्तु मुनयः श्रद्धावन्तो दिवंगताः।'** (४४—४६)

३ (क) श्रीमद्गोस्वामीजीको श्रद्धा और विश्वासकी आवश्यकता है; क्योंकि इनके बिना श्रीरामचरितमानस एवं श्रीरामभक्तिका मिलना दुर्लभ है। यथा—*'जे श्रद्धासंबल रहित नहि संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति……।'* (१। ३८) *'बिनु बिस्वास भगति नहि तेहि बिनु द्रवहिं न राम।'* (७। ९०) अतएव श्रद्धा-विश्वासरूपी कहकर, श्रद्धा-विश्वासरूपसे भवानी-शङ्करजीकी सहेतुक वन्दना की। (ख) पं० राजकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि इनकी वन्दना ग्रन्थसिद्धिहीके हेतु है; क्योंकि ये श्रद्धा-विश्वासरूप हैं और कोई सिद्धि बिना विश्वासके नहीं होती। यथा—*'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'* (७। ९०) (ग) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि वन्दनाका अभिप्राय यह है कि श्रीरामजी मेरे हृदयमें बसते तो हैं परन्तु उनका नाम, रूप, लीला, धाम और धारणा—ये तत्त्व यथार्थ दर्शित नहीं होते, श्रद्धा-विश्वासरूपसे आपके मेरे हृदयमें बसनेसे मैं साङ्गोपाङ्ग इन तत्त्वोंको जान जाऊँगा। [ये सब भाव प्रथम अर्थके अनुसार कहे गये। आगेके भाव अर्थ २ के अनुसार कहे जाते हैं।] (घ) श्रीशिवजी मानसके आचार्य हैं और श्रीपार्वतीजीकी कृपासे जगत्‌में उसका प्रचार हुआ। यथा—*'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा॥'* (१। ३०) *रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥'* (१। ३५) *'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥'* (१। ११२) (ङ) ये गोस्वामीजीके इष्टदेवके परम प्यारे हैं। यथा—*'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें॥'* (१। १३८) **'वैष्णवानां यथा शम्भुः'** (भा० १२। १३। १६)।

'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' इति।

१ (क) शब्दसागरमें 'श्रद्धा' का अर्थ यह है—'एक प्रकारकी मनोवृत्ति जिसमें किसी बड़े वा पूज्य व्यक्तिके प्रति एवं वेदशास्त्रों और आप्त पुरुषोंके वचनोंपर भक्तिपूर्वक विश्वासके साथ उच्च और पूज्य भाव उत्पन्न होता है।' विनायकोटीकाकार लिखते हैं कि किसी बातकी गूढ़ता और विचित्रतासे आकर्षित हो वेद, शास्त्र या गुरुसे उसके जाननेकी उत्कट इच्छाको 'श्रद्धा' कहते हैं। और श्रीगौड़जी कहते हैं कि किसी सद्‌गुण वा अच्छाईपर मन खिंचकर उसे स्वयं अपनेतक अथवा अपनेको उसतक पहुँचाना चाहें वा वैसा ही होनेकी कामना करें तो इस अभिलाषाको 'श्रद्धा' कहते हैं। (ख) इसी तरह, 'विश्वास'=वह धारणा जो मनमें किसी व्यक्तिके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता आदि अथवा किसी सिद्धान्त

आदिकी सत्यता या उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है=किसीके गुणों आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाला मनका भाव। (श० सा०)।=किसी बातपर अथवा किसी व्यक्ति आदिपर पूरा भरोसा हो जाना, उसपर मनका बैठ जाना। (गौड़जी, वि० टी०)

२ (क) यहाँ पार्वतीजी श्रद्धारूपा हैं, क्योंकि ईश्वरकोटिमें होनेके कारण एक छोटी-सी भूलपर महाभयानक पतिवियोगका कष्ट और अश्रुत अभूतपूर्व घोर तपस्या करके श्रीपार्वतीजीने एक लाख वर्षोंके लगभग बिताकर, स्वयं मूर्तिमती श्रद्धा बनकर मूर्तिमान् विश्वास भगवान् शङ्करको पाया। श्रद्धासे ही *'उर उपजा अति दारुन दाहा'*, श्रद्धासे ही वियोग-कष्ट झेलती रहीं, श्रद्धासे ही देहत्याग किया, श्रद्धासे ही तपस्या की और सप्तर्षियोंकी एवं स्वयं भगवान् शङ्करकी परीक्षामें खरी उतरीं। '**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥**' (अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है, जिस विषयमें जिसकी श्रद्धा होगी वह उसी विषयका रूप बन जाता है। (गीता १७। ३) इसीका जगत्के लिये अप्रतिम उदाहरण उपस्थित किया। श्रद्धासे ही सकल-लोक-हितकारी कथा पूछी। *'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥'* (१। १०९) उसी समय श्रद्धाका उद्रेक हुआ था। *'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥'* (१। १०९) इस श्रद्धासे ही जिज्ञासा उत्पन्न हुई। भगवान् शङ्कर कहते हैं, *'तुम रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥'* (१। ११२) उनके भ्रमभञ्जन वचन सुन उन्हें *'भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥'* (१। ११९) सारे तन्त्रग्रन्थ, सम्पूर्ण रामकथा, इतिहास, पुराण इन्हीं भगवती श्रद्धाकी जिज्ञासाओंपर भगवान् विश्वासके उत्तर हैं, वही महेश्वर हैं। श्रद्धा उमा हैं। कोई विद्या नहीं जो उमामहेश्वरसंवादमें न आयी हो।

पं० रामकुमारजी—श्रीपार्वतीजीको श्रद्धा कहा। यथा— '**या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥**' (मार्कण्डेयपुराण ८२। २४) '**निगमाचार्यवाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति**' अर्थात् वेद और गुरुवाक्यमें भक्ति श्रद्धा है, वैसे ही श्रीशिववाक्यमें श्रीपार्वतीजीकी भक्ति श्रद्धा है।

(ख) श्रीशिवजीको विश्वास कहा। वे मूर्तिमान् विश्वास हैं; क्योंकि उनको श्रीरामतत्त्वपरत्वमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। क्षीरसागरमथनके समय यद्यपि समस्त देवता उपस्थित थे और सब श्रीराम-नामका महत्त्व जानते थे तथापि कालकूटकी ज्वालाको कोई न सह सका, उसको पी जानेका साहस भला कौन करता? परन्तु शिवजीका ऐसा अविचल विश्वास था कि आपने नामके प्रतापसे उस विषको पी ही तो लिया। यथा—*'जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहि पान किय।'* (कि० सो०) विष आपका कुछ न कर सका, किंतु अमृतरूप होकर आपका 'नीलकण्ठ' रूपसे भूषण हो गया। यथा—*'नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमीको॥'* (१। १९) *'खायो कालकूटु, भयो अजर अमर तनु,* (क० ७। १५८) *'पान कियो बिषु भूषन भो,* (क० ७। १५७) विश्वासका ऐसा रूप है कि भगवान् शङ्कर समस्त शङ्काओं-सन्देहोंका निवारण करते और समस्त जिज्ञासाओंका उत्तर देते हैं। स्वयं किसी बातमें उन्हें सन्देह नहीं है। वह तो मूर्तिमान् विश्वास ही ठहरे। पुनः, विश्वासको शिव कहनेका भाव कि जैसे बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, वैसे ही बिना शिवजीकी कृपाके भक्ति नहीं होती। यथा—*'बिनु बिस्वास भगति नहिं"""।'* (७। ९०) *'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'* (१। १३८)

३ 'श्रद्धा-विश्वासरूपी' कहनेका तात्पर्य यह निकला कि (क) वे ईश्वरको प्राप्त करानेवाले हैं। यथा— *'करहिं जोग जोगी जेहि लागी।"""नयन बिषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल। सबइ लाभ जग जीव कहँ भए ईसु अनुकूल॥'* (१। ३४१) *'जनकं सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरें देही॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे॥'* (१। ३१०) (ख) श्रद्धा और विश्वास नाममात्र दो हैं, वैसे ही श्रीभवानी-शङ्करजी नाममात्र दो हैं। भवसागरमें पड़े हुए जीवोंके उद्धारहेतु एक श्रद्धारूप और दूसरे विश्वासरूप हो उपदेशमें प्रविष्ट हुए। (ग) श्रद्धा और विश्वास उमा और महेश्वरके स्वरूप हैं। यह कहकर जनाया कि जैसे भवानी-शङ्करकी प्राप्ति दुर्लभ है, यथा—*'दुराराध्य पै अहहिं महेसू'* वैसे

हों श्रद्धा-विश्वास भी दुर्लभ हैं। पर वे महादेव-पार्वतीजीकी कृपासे, उनकी वन्दनासे प्राप्त हो जाते हैं। (घ) 'बिना इनके नहीं देख सकते' कहकर यह भी जनाया कि देखनेके उपाय यह हैं कि गुरुवाक्य, वेदवाक्यमें श्रद्धा हो कि ये ठीक कहते हैं और तदनुकूल अपने कर्त्तव्यपर विश्वास हो कि इससे अवश्य मेरा मनोरथ सिद्ध होगा।

४ **गौड़जी**—(क) चेतनामात्रमें व्यापनेवाली श्रद्धा और समस्त जड़में व्यापनेवाली बुद्धिकी शक्ति सम्पूर्ण विश्वमें विकासका कारण है। जड-चेतनमें धृति, धारणा तथा दृढ़ता विश्वासके ही व्यापनेसे देख पड़ती है। इस प्रकार समस्त विश्वमें श्रद्धा देवी और विश्वास महेश्वर व्यापकर उसे धारण किये हुए हैं। श्रद्धा-विश्वासरूपी उमा-महेश्वरके बिना अपने अन्तरतममें उपस्थित ईश्वरको सिद्ध भी नहीं लख पाते। श्रद्धा-विश्वास और उमा-महेश्वरमें अभेद है। (ख) भगवान् शङ्कर विश्वासरूप हैं और भगवती पार्वतीजी श्रद्धारूपिणी हैं। भगवान् शङ्करका दिव्य शरीर विश्वास पदार्थका बना हुआ है और भगवतीका दिव्य शरीर श्रद्धा पदार्थका बना हुआ है। श्रद्धा, दया, क्षमा, धी, श्री, ह्री—सभी भगवतीके विविध रूप हैं और देवीके नामोंमें आये हैं। यत्किञ्चित् श्रद्धा, दया, क्षमा आदि जो जीवोंके शरीरमें वा हृदयमें पायी जाती है, वह प्रकृतिका अंश ही है। परन्तु प्रकृतिके जो विविध रूप हैं, उनमें श्रद्धा भी एक विशेष रूप है। यह रूप श्रद्धामय है। अर्थात् इस रूपके अणु-अणु श्रद्धाके ही बने हुए हैं। वस्तुतः जीवका मानसिक शरीर मनोमयकोश श्रद्धाका ही बना हुआ होता है। '**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**' (गीता १७। ३) '**अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।**' अर्थात् यह पुरुष क्रियामय है, वह जो कुछ इस लोकमें करता है तदनुसार ही मरनेपर वह होता है। (छां० ३। १४। १) यह पुरुष श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसा ही होता है। विश्वासदेवताकी श्रद्धा ही शक्ति है। भगवान् शङ्कर विश्वास हैं और उमा श्रद्धा हैं। इन्हींसे मनोमय सृष्टिका विकास होता है। भगवान् तो कूटस्थ हैं, अचल हैं, ध्रुव हैं, जो त्रिलोकमें व्यापकर उसका भरण करते हैं और अन्तःकरणमें भी निरन्तर मौजूद हैं। जीवको उनतक अन्तर्मुख करनेवाली शक्ति श्रद्धा है और वह स्वयं विश्वास हैं, कूटस्थ हैं, अचल हैं, ध्रुव हैं। श्रद्धारूपी किरणें विश्वाससे ही बिखरती हैं। उन्हींकी डोरीको थामकर जीव विश्वास-सूर्यतक पहुँचता है। स्वान्तःस्थ ईश्वरको सिद्धलोग भी (अर्थात् जिन्होंने अणिमादि सिद्धियोंको वशीभूत कर लिया है, भौतिक ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया है वे भी) बिना श्रद्धा-विश्वासद्वारा अन्तर्मुख हुए कूटस्थ परमात्माको नहीं देख सकते।

नोट—४ '**पश्यन्ति**' इति। इस श्लोकमें '**पश्यन्ति**' पद दिया है। अन्तर्यामीरूप तो दिखायी नहीं देता, उसका तो अनुभव करना ही कहा जाता है। यथा— *'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अब्यक्त जेहि श्रुति गाव।'* (इन्द्रकृत श्रीरामस्तुति ६। ११२) *'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥'* (३। १३। अगस्त्यकृत रामस्तुति) तब '**पश्यन्ति**' कैसे कहा? इस शंकाका समाधान यह किया जाता है कि (क) श्रीमद्गोस्वामीजी '**पश्यन्ति**' शब्द देकर दर्शाते हैं कि हृदयमें स्थित ईश्वर साकार श्रीरामजी ही हैं, कोई दूसरा नहीं। यथा—*'परिहरि हृदय-कमल रघुनाथहि, बाहर फिरत बिकल भयो धायो॥'* (विनय २४४) *'दीनबंधु उर अंतरजामी।'* (२। ७२) *'अंतरजामी रामु सिय।'* (२। २५६) (ख) '**पश्यन्ति**' से दिखाया कि निर्गुण ब्रह्म सिद्धों आदिको दिखायी नहीं पड़ता; पर यदि वे श्रद्धा और विश्वाससे ईश्वरका भजन करें, (वे तर्क और ज्ञानसे काम लेकर ब्रह्मका भजन करते हैं, श्रद्धासे नहीं। और वह तो तर्कातीत है, ज्ञानातीत है। यथा—*'व्यापक ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी॥ मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* (१। ३४१) तो वही निर्गुण ब्रह्म उनके लिये सगुणरूप होकर दृष्टिका विषय हो जाय। यथा—*'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥'* (१। ११६) *'नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो……।'* (श्रीजनक-वचन १। ३४१) भाव यह है कि ज्ञानके अहंकारियोंको उपदेश है कि यदि स्वान्तःस्थ ईश्वरको देखना चाहते हो तो तर्क-वितर्कको छोड़ श्रद्धा-विश्वाससे काम लेकर भजन करो। इसलिये '**पश्यन्ति**' शब्द भावगर्भित यहाँ दिया गया। (लाला भगवानदीनजी) (ग) '**पश्यन्ति**' का प्रयोग 'ध्यानमें मनसे देखना, अनुभव करना,

समझना, विचारना' के अर्थमें भी होता है। आत्मा आँखोंसे देखनेकी वस्तु नहीं है। उसका अनुभव ही होता है। पर उसके लिये भी '**पश्यन्ति**' का प्रयोग गीतामें मिलता है। यथा— '**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्**' (गीता २। २९) आत्माके विषयमें ही यह वाक्य है और आत्माका स्वरूप नहीं होता। पुनश्च '**पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥**' (गीता १५। १०) '**यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥**' (गीता १३। २९) '**ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥**' (भा० १२। १३। १) हिन्दीभाषामें भी 'देखना' का अर्थ 'समझना, विचारना, अनुभव करना' होता है। यथा—'*देखेउँ करि बिचार मन माहीं।*' (५। ३२) '*देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी॥*' (५। २२) अतएव '**पश्यन्ति**' के प्रयोगमें वस्तुतः कोई शंका ही नहीं उठ सकती। (घ) वेदान्तभूषणजीका मत है कि शास्त्रोंमें मूर्त्त और अमूर्त्त-भेदसे दो प्रकारसे अन्तर्यामीकी स्थिति सबके अन्तःकरणमें दिखायी गयी है। जिस तरह काष्ठमें अग्नि, पुष्पमें गन्ध व्याप्त रहता है, उसी तरह व्यापक अन्तर्यामीको अमूर्त्त कहते हैं और भक्तोंके भावनानुकूल विग्रहविशेषसे हृदयमें रहनेवाले ईश्वरको 'मूर्त्त' कहते हैं। अन्तर्यामीके इसी मूर्त्त-अमूर्त्तरूपको गोस्वामीजीने 'सम' 'विषम' कहा है। यथा— '*तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥*' (२। २१९) परन्तु वह विग्रह निग्रह-विशेषसे हृदयप्रदेशमें स्थित ईश्वर भी बिना सुदृढ़ श्रद्धा और विश्वासके दिखायी नहीं देता। अमूर्त्त अनुभवकी वस्तु है और मूर्त्त दिखायी देनेवाला है, इसीसे यहाँ '**पश्यन्ति**' पद रखा गया और अद्वैतमतमें तो साकारको ही 'ईश्वर' कहते हैं, अतः उनके मतसे भी '**पश्यन्ति**' ठीक है।

५—श्रीशिवपार्वतीजी तो समस्त कलाओं और गुणोंके धाम हैं। यथा—'*प्रभु समरथ सर्बग्य सिव सकल कला गुन धाम। जोग ग्यान बैराग्य निधि*"" *॥*' (१। १०७) '*सुता तुम्हारि सकल गुन खानी।*' (१। ६७) (नारदवाक्य हिमाचलप्रति।) तब यहाँ केवल श्रद्धा-विश्वासरूप कहकर क्यों वन्दना की गयी? इसका मुख्य कारण लोकव्यवहारमें नित्य देखनेमें आया करता है: जब किसीसे कोई वस्तु माँगनेकी इच्छा होती है, तब उसकी वन्दनामें वही विशेषण दिये जाते हैं जिससे जाना जाय कि वह वस्तु उसके अधिकारमें है। श्रीमद्गोस्वामीजीको श्रद्धा और विश्वास इन्हीं दोनोंकी आवश्यकता है। श्रीरामचरितमानस एवं भक्तिकी प्राप्ति बिना इनके दुर्लभ है। (नोट ३ देखिये)

६—'**भवानीशङ्करौ वन्दे**' इस तरह वन्दना तो श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीकी करते हैं और महत्त्व दिखाया श्रद्धा और विश्वासका। यह क्यों? यह प्रश्न उठाकर बाबा जानकीदासजी उसका उत्तर यह देते हैं कि ऐसा करके कविने यह सूचित किया कि जब विशेषणमें ये गुण हैं तब विशेष्यका न जाने कितना महत्त्व होगा। (मा० प्र०) वस्तुतः '**रूपिणौ**' यह सूचित कर रहा है कि इस वन्दनामें श्रद्धा-विश्वास ही प्रधान हैं। भवानी-शङ्करको उन्हींकी मूर्त्ति मानकर उन्हींकी वन्दना की गयी है। अतः महत्त्व भी उन्हींका दिखाया है। पुनः, ऐसा करके कविने श्रद्धा-विश्वास और उमा-महेश्वरमें अभेद सूचित किया है। (विशेष गौड़जीकी टिप्पणी देखिये।)

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥ ३॥

शब्दार्थ—**बोधमयम्**=ज्ञानस्वरूप। **नित्यम्**=नाशरहित। **यमाश्रितः**=**यम्-आश्रितः**=जिनके आश्रित (होकर)। **हि**=निश्चय ही। **वक्रोऽपि**=**वक्रः-अपि**=टेढ़ा भी। **वन्द्यते**=वन्दना किया जाता है।

अन्वय—(अहं) **शङ्कररूपिणं बोधमयं नित्यं गुरुं वन्दे यमाश्रितः हि वक्रः अपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।**

अर्थ—मैं शंकररूपी ज्ञानस्वरूप, नित्य श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना करता हूँ (कि) जिनके आश्रित (शरण) होनेसे निश्चय ही टेढ़ा भी चन्द्रमा सर्वत्र वन्दित होता है॥ ३॥

नोट—१ यह मङ्गलाचरण '**गुरुं शङ्कररूपिणम्**' कहकर किया गया है। '**शङ्कररूपिणम्**' कहनेसे प्रधानता शंकरजीकी पायी जाती है। इसीसे उत्तरार्ध भी 'शंकरका ही विशेषण है। '**शंकररूपिणम्**' कहनेसे यह

आशय निकलते हैं—(क) इस श्लोकमें जब श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना करने लगते हैं तो उनकी समताके लिये भगवान् शङ्करका ही ध्यान आता है; अतः **'गुरुं शङ्कररूपिणम्'** कहा। (ख) शङ्करजीको गोस्वामीजीने अपना गुरु कई स्थलोंमें कहा है। यथा—*'गुरु पितु मातु महेस भवानी।'* (१। १५)। ***'हित उपदेस को महेस मानो गुरु कै।'*** (बाहुक ४३) ***'बंधु गुरु जनक जननी बिधाता', 'मेरे माय बाप गुरु संकरभवानिए'*** (क० ७। १६८) इत्यादि। श्रीरामचरितमानसके सम्बन्धसे श्रीशङ्करजी गोस्वामीजीके दादा-गुरु हैं। भगवान् शङ्करने श्रीनरहर्यानन्दजीको रामचरितमानस सुनाया और उन्हें आज्ञा दी कि वे उसे तुलसीदासको पढ़ा दें, जब उनकी बुद्धि उसको ग्रहण करनेयोग्य हो। यथा—***'प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहरियानन्द सुनाम छते॥ बसैं रामसुशैल कुटी करि कै। तल्लीनदसा अति प्रिय हरि कै॥ तिन्ह कहँ दर्शन आप दिए। उपदेशहु दै कृतकृत्य किए॥ प्रिय मानसरामचरित्र कहे। पठए तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे॥ लै बालक गवनहु अवध, विधिवत मन्त्र सुनाय। मम भाषित रघुपतिकथा, ताहि प्रबोधहु जाय॥'*** (बाबा वेणीमाधोदासरचित मूल गुसाईंचरितसे) इस तरह यह गोस्वामीजीकी विद्यागुरुपरम्परा वा मानसगुरुपरम्परा है। यह परम्परा शङ्करजीसे चली है। पुनः, यदि नरहर्यानन्दजीका पढ़ाना वैसा ही समझें, जैसे भुशुण्डीजीको लोमशजीका मानस देना तो हम यह कह सकते हैं कि शङ्करजीने मानस गोस्वामीजीको दिया; जैसे लोमशद्वारा देनेपर भी ग्रन्थकार उनके विषयमें लिखते हैं कि ***'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।'*** (१। ३०) इस प्रकार शङ्करजी उनके मानसगुरु कहे जा सकते हैं।* इन कारणोंसे भी **'गुरुं शङ्कररूपिणम्'** कहकर वन्दना की है। (ग) (पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि गुरुको शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं ब्रह्म कहा गया है।) यथा, **'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।'** (गुरुगीता ४३) **'शंकर'** का अर्थ है 'कल्याण करनेवाले'। इसीसे यहाँ शङ्कररूपी कहकर वन्दना की। (क्योंकि रामचरितमानस लिखने बैठे हैं।) इनकी वन्दनासे गोस्वामीजी अपना और इस ग्रन्थके वक्ता और श्रोता सबका कल्याण चाहते हैं। आगे मङ्गलाचरण सोरठा ५ में हरिरूपी कहकर वन्दना करते हैं। [और ***'राखै गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥'*** (१। १६६) ***'बिधाता'*** से बड़ा कहा है। इस प्रकार त्रिदेवरूप तथा उनसे बड़ा भी कहा।]

२—श्रीगुरुमहाराजका मङ्गलाचरण करनेका हेतु यह है कि—(क) श्रीमद्गोस्वामीजीको यह श्रीरामचरितमानस अपने गुरुमहाराजसे प्राप्त हुआ है। यथा—***'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।''''तदपि कही गुर बारहिं बारा।'*** (१। ३०-३१) (ख) गुरुमहाराज ज्ञान, विश्वास और भक्तिके देनेवाले हैं।

नोट— ३ **'बोधमयं नित्यं गुरुम्'** इति। (क) गुरु वह है जो शिष्यके मोहरूपी अन्धकारको दूर करे। यथा—**'गु शब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रु शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥'** (गुरुगीता श्लोक १२) ***'महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।'*** (मं० सोरठा ५) ***'बिनु गुर होइ कि ज्ञान'*** (७। ८९) गुरु ज्ञानके देनेवाले हैं। (ख) शास्त्रोंमें गुरुको सच्चिदानन्दरूप ही कहा गया है और गुरुका ध्यान जो वर्णन किया गया है उसमें उनको 'ज्ञानमूर्त्ति' और 'नित्य' कहा गया है। यथा—**'ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्। एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्नमामि॥'** (गुरुगीता ६७) उपनिषदोंमें भी गुरुके प्रति जिसकी वैसी ही श्रद्धा है जैसी भगवान्‌के प्रति, उसीको तत्त्वका अधिकारी कहा गया है। यथा—**'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'** (श्वे० श्व० ६। २३) जो अपनेको निरन्तर नित्य, ज्ञानस्वरूप,

* सम्भव है कि इसी कारण 'तुलसीदासजी' 'गोसाईं' कहलाये। नहीं तो श्रीरामानन्दीय वैष्णव 'गोसाईं' नहीं कहलाते। इसका प्रमाणस्वरूप वल्लभसम्प्रदाय है, जो रुद्रसम्प्रदायके माने जाते हैं। वे भी मानते हैं कि शङ्कर बिना भक्ति नहीं। उनके सम्प्रदायके परमाचार्य रुद्रभगवान् हैं। वे सब गोसाईं कहलाते हैं, वैसे ही तुलसीदासजी भी कहलाये। वल्लभाचार्यस्वामी और गोस्वामीजी समकालीन थे; गोस्वामीजी उस सम्प्रदायके गोपाल-मन्दिर काशीमें बहुत दिन रहे भी और वहीं उन्होंने विनयकी रचना की। यह भी 'गोसाईं' कहलानेका कारण हो सकता है।

चेतन, अमल, सच्चिदानन्दस्वरूप मानता है वास्तवमें वही 'गुरु' कहलाने योग्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्तिके लिये 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' गुरुके पास जानेका उपदेश किया गया है। यथा—'**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्**॥' (मुण्डक० १। २। १२) इसीके अनुसार गोस्वामीजीने ये विशेषण यहाँ दिये हैं।

प्रश्न—गुरुजी तो मनुष्य हैं, उनका पाञ्चभौतिक शरीर तो नश्वर है, तब उनको 'नित्य' कैसे कहा?

उत्तर—(१) श्रीगुरुमहाराज और ईश्वरमें अभेद मानकर। यथा—'*भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक।*' (भक्तमाल श्रीनाभास्वामीकृत) भगवान् नित्य हैं, अतः गुरुमहाराज भी नित्य हैं। पुनः, (२) गुरुको '**शङ्कररूपिणम्**' कहा है और शङ्करजी 'नित्य' अर्थात् अविनाशी हैं। यथा—'*नाम प्रसाद संभु अबिनासी*' (१। २६) अतएव इस सम्बन्धसे गुरुको भी 'नित्य' कहा। पुनः, (३) '**शङ्कररूपिणम्**' तथा उत्तरार्धके '**यमाश्रितो**......' से यहाँ प्रधानतया शङ्कररूपमें गुरुकी वन्दना होनेसे 'नित्य' कहा है। पुनः, (४) श्रीरामप्रसादशरणजी कहते हैं कि यद्यपि '**बोधमयम्**' और '**नित्यम्**' श्रीगुरुमहाराजके विशेषण हैं, परन्तु आपने अपने काव्यमें तीन गुरु माने हैं। प्रथम श्रीरामचरितमानसको। यथा—'*सद्गुर ज्ञान बिराग जोग के*' (१। ३२) दूसरे, श्रीशिवजीको। यथा—'*गुर पितु मातु महेस भवानी।*' तीसरे, अपने मन्त्रराज उपदेष्टा श्रीनरहर्यानन्दजीको जिनके लिये कहते हैं कि '*मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।*' (१। ३०) '**बोधमयम्, नित्यम्, गुरुम्**' मेंसे '**बोधमयम्**' श्रीरामचरित्रके लिये है; क्योंकि ये ज्ञानादिके सद्गुरु हैं। '**नित्यम्**' शिवजीके वास्ते है, क्योंकि शिवजी अविनाशी हैं। यथा—'*नाम प्रसाद संभु अबिनासी।*' (१। २६) और तीसरा शब्द '**गुरुम्**' अपने निज गुरुमहाराजके लिये है। तीनों गुरु शङ्कररूप अर्थात् कल्याणकर हैं। इन्हीं तीनोंके आश्रित होनेसे इनका काव्य वक्रचन्द्रवत् सर्वत्र वन्दनीय होगा। इन तीनों गुरुओंके स्वरूप एक होनेसे इन तीनोंके कर्तव्य भी एक ही हैं। (उदाहरणके लिये मं० सोरठा ५ '*बंदउँ गुरपदकंज*......' नोट १ देखिये) (५) श्रीबैजनाथजीका मत है कि श्रीरामनाममें विश्वास होनेसे '*बोधमयम्*' कहा; क्योंकि गुरुसे श्रीराममन्त्र मिलनेपर बोध हो जाता है, अन्यसे सुननेसे नहीं।

नोट—४ '**यमाश्रितो हि**......' इति। (क) '*हि*' का प्रयोग प्रायः निश्चय अथवा कारणका बोध करानेके लिये होता है। यथा—'**हि हेताववधारणे।**' (अमरकोश ३। ३। २५६) 'निश्चय' अर्थमें इसका अन्वय '**सर्वत्र वन्द्यते**' के साथ होगा। 'कारण' अर्थमें इसका सम्बन्ध '**वन्दे**' से होगा। क्यों वन्दना करते हैं? इस कारणसे कि '**यमाश्रितो**......'। (ख) '**वक्रोऽपि चन्द्रः**' इति। यहाँ 'वक्र चन्द्रमा' से शुक्लपक्षकी द्वितीयाका चन्द्रमा अभिप्रेत है। टेढ़ेसे सब डरते हैं। देखिये कि राहु भी टेढ़े चन्द्रमाको नहीं ग्रसता। यथा, '*बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू।*' (१। २८१) पर शिवजीके आश्रित हो जानेसे, उनकी शरण लेनेसे, शङ्करजीके उसे ललाटपर धारण कर लेनेसे टेढ़े चन्द्रमाको भी सब प्रणाम करते हैं। द्वितीयाका चन्द्रमा ही वन्दनीय होता है, अन्य तिथियोंका नहीं; यथा—'*दुइज न चंदा देखिऐ उदौ कहा भरि पाख।*' (दोहावली ३४४) (ग) 'चन्द्रमा' नाम यहाँ 'वक्र' के साथ बहुत ही उपयुक्त है। यह शब्द लिखनेमें भी टेढ़ा और उच्चारणमें भी टेढ़ा है। इसी तरह '*बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू*' और '*अवगुन बहुत चंद्रमा तोही*' में भी 'चन्द्रमा' शब्दका ही प्रयोग हुआ है। भगवान् शङ्करने इसमें 'रकार' देखकर इसे मस्तकपर रखा। यह शङ्करजीके 'रकार-मकार' में विश्वासका बोधक है।

टिप्पणी—इन विशेषणोंका भाव यह है कि श्रीगुरुदेवजी ज्ञानदाता हैं, अविनाशीकर्ता हैं, वन्दनीय कर्ता हैं। जैसे शिवजीके आश्रित होनेसे दुईजचन्द्र वन्दनीय हो गया, वैसे ही गुरुजीके आश्रित वक्रजन (शिष्य) वन्दनीय हो जाता है। [मेरी लघु एवं टेढ़ी बुद्धि श्रीगुरुकृपासे श्रीरामयश कथन करनेमें ऐसी समर्थ हो जावे कि सभी लोग इस ग्रन्थका आदर करें और मैं भी वन्दनीय हो जाऊँ, यह कवि चाहते हैं।] जैसे भुशुण्डिजी वक्र थे, पर गुरुकृपासे वन्दनीय हो गये। यथा—'*रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ बंदउँ पदसरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥*' (१। १८) वैसे ही गोस्वामीजी और उनकी कविता भी शङ्कररूपी गुरुके आश्रयसे जगत्-वन्दनीय हो गयी। यथा—'*भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।*' (१। १५)

'तुलसी गुसाईं भयउ।' (बाहुक), *'रामनामको प्रभाउ, पाउ, महिमा, प्रतापु, तुलसी- सो जग मनिअत महामुनी सो॥' 'मेरे माय बाप गुरु संकर भवानिये'* (क० ७। ७२, १६८)(इन्हींके द्वारा मन्त्र मिला।)

नोट— ५ (क) ऊपर मङ्गलाचरणके श्लोक १ एवं २ में और पुनः आगे श्लोक ४ में दो-दोकी वन्दना (अर्थात् वाणी-विनायक, श्रद्धा-विश्वासरूपी भवानी-शङ्कर और कवीश्वर-कपीश्वरकी वन्दना) साथ-साथ की गयी है, परन्तु यहाँ अकेले गुरुमहाराजकी वन्दना है। ऐसा करके गुरुदेवजीका अद्वितीय होना सूचित किया है। अर्थात् जनाया है कि ये परब्रह्मके तुल्य हैं, इनकी समताका दूसरा कोई नहीं है। पुनः, (ख) वाणी-विनायक, श्रद्धा-विश्वासरूपी भवानी-शङ्कर इन चारकी वन्दना प्रथम की और अन्तमें कवीश्वर-कपीश्वर और श्रीसीता-रामजी इन चारकी की और इनके बीचमें श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना की गयी। इसमें भाव यह है कि गुरुजी रत्नस्वरूप हैं, अतः इनको डब्बेके बीचमें रत्नकी नाईं रखा है। पुनः, (ग) ऐसा करके इनकी प्रधानता दर्शित की है। यन्त्रराजके पूजनमें प्रधान देवता बीचमें पधराये जाते ही हैं। गुरुका दर्जा (पद, महत्त्व) ईश्वरसे भी बड़ा है। यथा—*'तुम्ह ते अधिक गुरहि जियँ जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥'* (२। १२९) *'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥'* (१। १६६)

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥ ४॥

शब्दार्थ—**गुणग्राम**=गुणोंका समूह, कथा, सुयश। **पुण्यारण्य**=पुण्य अरण्य, पवित्रवन, पुण्योंका वन। **विहारिणौ**=विहार करनेवाले दोनों, विचरनेवाले। **विशुद्ध**=विशेष शुद्ध, अत्यन्त निर्मल।

अन्वय—**(अहं) श्रीसीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ वन्दे।**

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजीके गुणग्रामरूपी पुण्य वनमें विहार करनेवाले विशुद्ध विज्ञानी श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी दोनोंको प्रणाम करता हूँ। ४।

टिप्पणी—१ **'सीताराम'.....'विहारिणौ'** इति। (क) अरण्यका रूपक इसलिये दिया कि ये दोनों वनवासी हैं। [वाल्मीकिजीका एक आश्रम दक्षिणमें चित्रकूटके निकट है जहाँ श्रीरामजी गये थे। दूसरा आश्रम विठूरमें था जहाँ श्रीसीताजी भेजी गयी थीं और जहाँ उनके दो जुड़वाँ पुत्र श्रीलवजी और श्रीकुशजी हुए थे। और श्रीहनुमान्‌जी गन्धमादनपर्वतपर एक केलेके वनमें रहा करते हैं। यहीं भीमसेनको श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन प्रथम-प्रथम हुआ था। (महाभारत वनपर्व अ० १४५)] अथवा, वनसे चरितकी अपारता भी जनायी। श्रीसीतारामजीके चरित अपार हैं ही। यथा—*'रामचरित सत कोटि अपारा।'* (७। ५२) (ख) **'पुण्यारण्यविहारिणौ'** कहकर जनाया कि ये दोनों सामान्य अरण्यके वासी नहीं हैं वरंच पुण्य वनके निवासी हैं। (ग) श्रीसीतारामजीके गुणग्रामको पुण्यारण्य कहा, क्योंकि सब वन पवित्र नहीं होते और श्रीसीतारामजीके गुणग्राम पवित्र हैं। यथा—*'पावन गंगतरंगमालसे।'* (१। ३२) *'रघुपतिकृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥'* (७। १३०) *'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥'* (७। १२६) वा गुणग्राम पवित्र हैं, अतः इस अरण्यको पवित्र कहा। नौ अरण्य मुक्तिदाता कहे गये हैं। [यथा—'**दण्डकं सैन्धवारण्यं जम्बूमार्गश्च पुष्करम्।' उत्पलावर्तमारण्यं नैमिषं कुरुजाङ्गलम्। हिमवानर्बुदश्चैव नवारण्याश्च मुक्तिदाः।**' (रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्य अ० ३० ५५-५६) स्कन्द-पुराणके नागरखण्ड अ० १९१ में ये श्लोक हैं—'**एकं तु पुष्करारण्यं नैमिषारण्यमेव च। धर्मारण्यं तृतीयं तु तेषां संकीर्त्यते द्विजाः॥'.....'वृन्दावनं वनं चैकं द्वितीयं खाण्डवं वनम्। ख्यातं द्वैतवनं चान्यत् तृतीयं धरणीतले।**'(१३, १७) इस प्रसंगमें 'संसारमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं, उनका स्नान मनुष्य कैसे कर सकता है?' इस शंकाके उत्तरमें बताया है कि भूतलमें तीन क्षेत्र, तीन अरण्य, तीन पुरी, तीन वन, तीन ग्राम, तीन तीर्थ, तीन पर्वत और तीन महा नदियाँ अत्यन्त पवित्र हैं। इन आठ त्रिकोंमेंसे किसी त्रिकके

एकमें स्नान करनेसे उस त्रिकका फल मिलता है और किसी एक त्रिकमें स्नान करनेसे आठों त्रिकोंका फल मिलता है और आठों त्रिकोंमें स्नान करनेसे समस्त तीर्थोंके स्नानका फल मिलता है। उन्हींमेंसे दो त्रिक ऊपर उद्धृत किये गये।] [अथवा, ये मर्यादापुरुषोत्तमके चरित्र हैं, अतः पुण्यारण्यका रूपक दिया। औरोंकी लीलामें अपवित्रताकी शंका भी होती है जिसके लिये **'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा'**, ***'समरथ कहुँ नहिं दोष'*** कहकर समाधान किया जाता है। (१। ६९—१। ७०। १ देखिये] इससे यह भी जनाया कि जिसके बड़े पुण्य उदय हों वही इस वनमें विहार कर सकता है। यथा—***'अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥'*** (७। १२९) पुनः, (घ) श्रीवाल्मीकिजी एवं श्रीहनुमान्‌जी दोनोंने केवल श्रीरामयश गाया है। इन दोनोंको उत्तरार्धमें 'विशुद्ध विज्ञानी' कहा है जिससे यह समझा जा सकता है कि इन्होंने निर्गुण ब्रह्मका यश गाया होगा। यथा—***'ब्रह्मज्ञान रत मुनि विज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥ लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥'*** (७। १११) इत्यादि ये गुण निर्गुण रामके हैं, जो सबमें रमण करते हैं। यही गुण इन्होंने भी गाये होंगे। इस बातका निराकरण करनेके लिये और सन्देह निवारणार्थ **'सीतारामगुणग्राम'** (अर्थात् सगुण ब्रह्मके चरित) में विहार करना कहा।

नोट— १ **'विहारिणौ'** इति। (क) 'विहार' शब्द आनन्दपूर्ण विचरणका द्योतक है। इसमें भय, शंका आदिका लेश भी नहीं होता। ये दोनों इस पुण्यारण्यकी प्रत्येक वस्तुओंको देख और उनका पूर्णतः ज्ञान प्राप्त करके परमानन्दरसमें मग्न होनेवाले हैं। (भगवतीप्रसादसिंह मुख्तार) (ख) हनुमान्‌जी सदा सुनते हैं इसके प्रमाण तो बहुत हैं। वाल्मीकिजी सदा उसीमें विहार करते हैं, इसका प्रमाण एक यह है कि कलियुगमें वे ही (हनुमान्‌जीके शापवश) तुलसीदास हुए और यह चरित गाया है। यह बात भक्तमाल तथा गुसाईंचरितमें स्पष्ट है और गोस्वामीजीने स्वयं भी कहा है। यथा—***'जनम जनम जानकीनाथके गुनगन तुलसिदास गाये'*** (गीतावली ६। २३) ***'जनम जनम'*** से सदा श्रीरामगुणग्राममें निरन्तर विहार करना स्पष्ट है। अथवा, यावज्जीवनविहार करनेसे 'विहारी' कहे गये। श्रीसीतारामजीके गुणग्राममें ही अपना सारा जीवन लगा दिया। श्रीहनुमान्‌जी तो चिरजीवी हैं, इससे वे अबतक विहार कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे और वाल्मीकिजी जबतक रहे तबतक करते रहे। अथवा, 'विहारी' से जनाया कि जो यत्र-तत्र क्वचित् गुणगान करनेवाले हैं वे 'विहारी' नहीं हैं। क्योंकि 'विहारी' शब्दका अर्थ ही होता है, **'विहरति तच्छीलः'** अर्थात् विहार करना ही जिसका स्वभाव है, वही 'विहारी' कहलाता है और जिसका जो स्वभाव होता है वह उसके साथ आजीवन रहता ही है। श्रीहनुमान्‌जीने तो श्रीरामराज्याभिषेकके समय श्रीरामजीसे यह वरदान ही माँग लिया था कि जबतक आपका चरित सुनता रहूँ तभीतक जीवन रहे। यथा—**'यावद् रामकथा वीर चरिष्यति महीतले। तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः॥'** (वा० रा० ७। ४०। १७) इसीसे अप्सराएँ और गन्धर्व श्रीरामजीके चरित्र उन्हें नित्य गाकर सुनाया करते हैं, यह बात उन्होंने **भीमसेनसे** कही है। यथा— **'तदिहाऽप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदाऽनघ। तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम्॥'** (महाभा० वन० १४८। २०) और यह तो प्रसिद्ध ही है कि वे सर्वत्र रामचरित सुनने जाते हैं।

२—**'विशुद्धविज्ञानौ'** इति। (क) विज्ञानी=परमार्थतत्त्वका यथार्थ ज्ञाता। **'विशुद्धविज्ञानौ'** कहनेका भाव कि परमार्थतत्त्व यथार्थ जाननेका विषय नहीं है। यथा—***'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'*** (१। ३४१) **'यतो वाचो निवर्तन्ते'** (ब्रह्मोपनिषद्)। परन्तु उस परमतत्त्वको ये दोनों प्रभुके कृपासे यथार्थ जानते हैं। (ख) कामादि विज्ञानीके मनमें भी क्षोभ प्राप्त कर देते हैं। यथा—***'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'*** (३। ३८) अतः **'विशुद्ध'** विशेषण देकर जनाया कि इनका विज्ञान सदा एकरस रहता है, ये दोनों मूर्तिमान् विशुद्ध विज्ञान हैं, केवल विज्ञानधाम या विज्ञानी नहीं हैं।

३—☞'ज्ञान' और 'विज्ञान' ये दोनों शब्द इस ग्रन्थमें आये हैं। कहीं-कहीं तो ज्ञानसे ही विज्ञानका अर्थ

ग्रहण किया जाता है और कहीं-कहीं ज्ञानसे विज्ञानको अधिक कहा है। यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५) *'सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई।'''दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।'* (७। ५४), *'ज्ञानिहु ते अति प्रिय बिज्ञानी।'* (७। ८६) *'ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना।'* (७। ८४) इत्यादि। ज्ञान और विज्ञानकी व्याख्या श्रीशङ्कराचार्यजीने गीताभाष्यमें इस प्रकार की है, '**ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानम्। विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथैव स्वानुभवकरणम्।**' अर्थात् शास्त्रोक्त (वेदान्त आदि शास्त्रोंका) ज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है। शास्त्रसे ज्ञात—विषयका अनुभव करना 'विज्ञान' है। गोस्वामीजी भी 'ब्रह्मलीन, ब्रह्मपरायण' को विज्ञानी कहते हैं। 'विशुद्ध विज्ञानी' शब्द सम्भवतः मानसमें इसी स्थानपर है। श्रीपार्वतीजीने जो कहा है कि *'धर्मसील बिरक्त अरु ज्ञानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥'* (७। ५४) हो सकता है कि अनन्य रामभक्त होनेसे 'विशुद्ध विज्ञानी' कहा हो।

☞ श्रीहनुमान्‌जीके लिये इस ग्रन्थमें यहाँ 'विशुद्ध विज्ञानी', आगे दोहा १७ में 'ज्ञानघन', कि दोहा ३० (४) में *'बिज्ञान निधान'* और सुं० मं० में 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्' विशेषण आये हैं। इनपर आगे विचार किया जायगा।

४—'**कवीश्वरकपीश्वरौ**' इति। श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जीकी एक साथ वन्दना करनेके कारण ये कहे जाते हैं—(क) निरन्तर कीर्तन और श्रवणके सहधर्मसे दोनों साथ रखे गये। वाल्मीकिजीने 'शतकोटिरामायण' लिखी। यथा—*'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि।'* (१। २५) *'रामचरित सतकोटि अपारा।'* (७। ५२) (१। २५ देखिये) और श्रीहनुमान्‌जीने भी श्रीरामचरितसम्बन्धी एक महानाटक लिखा। यथा—*'महानाटक-निपुन-कोटि-कबिकुलतिलक-गान-गुण गर्व-गंधर्व-जेता।'* (विनय २९), *'काव्य-कौतुक-कला-कोटि सिंधो।'* (विनय २८) और ये रामयशके ऐसे अनन्य श्रोता हैं कि जहाँ-जहाँ श्रीरामचरित होता है वहाँ-वहाँ आप बड़े आदरसे सुनने जाते हैं। यथा—*'जयति रामायण-श्रवण-संजात-रोमांच; लोचन सजल, सिथिल बाणी।'* (विनय २९), '**यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्। बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।**' (वाल्मीकीय रामायणके मङ्गलाचरणमें संगृहीत उद्धरणोंसे।) अर्थात् जहाँ-जहाँ श्रीरघुनाथजीका कीर्तन होता है, वहाँ-वहाँ हाथ जोड़े हुए, नतमस्तक, नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरे हुए खड़े रहनेवाले, राक्षसोंके नाशक श्रीहनुमान्‌जीको प्रणाम कीजिये। (ख) वाल्मीकिजी कीर्तनकर्त्ता हैं और श्रीहनुमान्‌जी श्रोता हैं। (ग) मुनि और वानर दोनों वनवासी हैं। अतः दोनोंको साथ रखा। (घ) (किसी-किसीका मत है कि) कविने हनुमन्नाटक और वाल्मीकीयसे भी सहायता ली है, इससे उनके कर्त्ताओंकी वन्दना की है। अथवा, (ङ) इससे कि कलियुगमें मानसकी रचना दोनोंने मिलकर की है। (गौड़जी)

किसी-किसीने '**कपीश्वर**' से सुग्रीवका अर्थ लिया है; परन्तु यहाँ जो विशेषण दिये गये हैं वे हनुमान्‌जीमें ही पूर्णरूपसे घटित होते हैं, श्रीसुग्रीवजीमें नहीं। यथा—*'प्रनवउँ पवनकुमार खलबनपावक ज्ञानघन।'*''' (१। १७) *'पवनतनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिज्ञान निधाना॥'* (४। ३०) सुग्रीवजीने रामचरितपर कोई ऐसा काव्य नहीं रचा जो प्रसिद्ध हो। फिर हनुमान्‌जीको 'कपीश्वर' कुछ यहीं नहीं कहा गया, अन्यत्र भी कहा गया है। यथा—'**ज्ञानिनामग्रगण्यम्। सकलगुणनिधानं वानराणामधीशम्।** (सुं० मं० ३) *'नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ।'* (५। ५) '**कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लंकाभयङ्करम्।**' यह भी स्मरण रहे कि श्रीहनुमान्‌जीहीने तो सुग्रीवजीको 'कपिपति' बनवाया। यथा, *'जयति गतराजदातार हंतार संसार-संकट, दनुज-दर्पहारी।'* (विनय २८), *'नतग्रीव-सुग्रीव दुःखैक बंधो।'* (विनय २७) *'जयति सुग्रीव ऋक्षादि रक्षन- निपुन, बालि बलसालिबध मुख्य हेतू।'* (विनय २५) श्रीसीताशोधसमय तथा श्रीसीताजीका पता लगाकर वानरोंके प्राणों और सुग्रीवके प्रतिज्ञाकी रक्षा की। यथा—*'राखे सकल कपिन्ह के प्राना।'* (५। २९) इन कारणोंसे इनको '**कपीश्वर**' कहा। 'ईश्वर' का अर्थ 'समर्थ' श्रेष्ठ भी होता है जब वह समस्त पदोंमें आता है। समस्त वानरोंमें ये सर्वश्रेष्ठ हैं ही।

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ ५॥

शब्दार्थ—**उद्भव**=उत्पत्ति, पैदा करना। **स्थिति**=पालन-पोषण। **संहार**=नाश। **श्रेयस्करीं**=**श्रेयः-करीं**=कल्याण करनेवालीको। **नतोऽहं**=**नतः-अहं**=**अहं नतः अस्मि**=मैं नमस्कार करता हूँ।

अन्वय—**अहं उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं श्रीरामवल्लभां श्रीसीतां नतः (अस्मि)।**

अर्थ—मैं उत्पत्ति-पालन-संहारकी करनेवाली, क्लेशोंको हरनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणोंकी करनेवाली, श्रीरामचन्द्रजीकी प्रिया, श्रीसीताजीको प्रणाम करता हूँ। ५।

नोट— १ श्रीरामतापनीयोपनिषद्में इससे मिलती-जुलती श्रुति यह है, '**श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी। उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीं सर्वदेहिनाम्॥**' (३। ३) और भगवान्‌के विषयमें एक ऐसा ही श्लोक रघुवंश सर्ग १० में यह है, '**नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते। अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने॥**' (१६)

२ रामतापनीके '**सर्वदेहिनाम्**', '**जगदानन्ददायिनी**' और '**श्रीरामसान्निध्यवशात्**' की जगह यहाँ '**सर्वश्रेयस्करीम्**', '**क्लेशहारिणीम्**' और '**रामवल्लभाम्**' हैं। '**उद्भवस्थितिसंहारकारिणीम्**' दोनोंमें हैं।

३ विशेषणोंके भाव—(क) उद्भव, स्थिति और संहार त्रिदेवके कर्म हैं। इनका कारण मूलप्रकृति है। इन विशेषणोंसे आपमें '**मूलप्रकृति**' का भ्रम हो सकता था; अतः '**क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीम्**' कहा। पुनः, '**संहारकारिणीम्**' के साथ '**क्लेशहारिणीम्**' इससे कहा कि मरण या संहारसे देहजनित सारे क्लेश और यातनाएँ मिट जाती हैं और जीवका बड़ा उपकार होता है, कल्याण एवं श्रेय होता है तथा सृष्टिका क्रम चलता रहता है।

(ख) श्रीगौड़जी कहते हैं कि जन्ममें जितना क्लेश है उससे कम स्थितिमें, स्थितिसे कम संहारमें। पूर्वका क्लेश हरनेको ही परघटना क्रमशः होती है। क्रमसे उत्तरोत्तर क्लेशहरण होता है और जीवके उत्तरोत्तर विकासका यह मार्ग जब प्रशस्त रहता है, तब वह अन्तमें पूर्ण विकसित हो इस चक्रसे निवृत्त हो 'परमश्रेय रामपद' को पहुँचता है। यह 'परमश्रेय' कभी-न-कभी समस्त सृष्टिको इस जगल्लीला-अभिनेत्री रामवल्लभाद्वारा मिलता है; इसीसे '**सर्वश्रेयस्करी**' कहा।

(ग) किसीका मत है कि उद्भवादिसे जनाते हैं कि संतोंके हृदयमें वैराग्यादि उत्पन्न करके उनको स्थित करती हैं और कामादि विकारोंका संहार करती हैं। इन विशेषणोंसे कवि ज्ञान एवं भक्तिकी प्राप्ति और स्थिति तथा अविद्याका नाश चाहते हैं।

(घ) '**क्लेशहारिणीम्**' इति। योगशास्त्रमें क्लेशके पाँच भेद हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचोंके मिटे बिना जीवका कल्याण नहीं होता। अतः '**क्लेशहारिणीम्**' कहकर तब '**सर्वश्रेस्करीम्**' कहा। कल्याणके बहुत प्रकार कहे गये हैं।

४ '**सीताम्**' इति। 'सीताम्' पद '**षिञ् बन्धने**' धातु में '**क्त**' प्रत्यय लगनेसे बनता है। 'सीता' नाम केवल हल जोतनेके समय प्रकट होनेसे ही नहीं है। यह तो 'राम' नामकी तरह अनादि है। निर्गुण ब्रह्ममें उसकी नित्या उत्तमा शक्ति बँधी, इसीसे वह सगुण ब्रह्म हुआ, नहीं तो ब्रह्ममें विकार कहाँ? सृष्टि कहाँ? जगत् कहाँ? 'श्रीसीताजी ही ब्रह्मके बँधनेका कारण हुईं', वह सगुण हुआ, प्रेमपाशमें बँधा, राम हुआ, इसीलिये आगे कहते हैं '**रामवल्लभाम्**'। फिर वह राम कौन हैं, यह अगले श्लोकमें कहते हैं। (गौड़जी)

श्रीरामजी तथा उनका नाम अनादि है। रघुकुलमें अवतीर्ण होनेके पूर्व भी 'रामनाम' था। प्रह्लादजी सत्ययुगमें उसे जपते थे पर जब वे ही रघुकुलमें अवतरे तब अनुभवी ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उनका वही नामकरण यहाँ किया। वैसे ही 'सीता' नाम अनादि है। मनु-शतरूपाजीको जब ब्रह्मने दर्शन दिया तब भी 'श्रीसीताराम'

रूपसे। अनादि 'सीता' नामकी व्युत्पत्ति गौड़जीने ऊपर बतायी। वही 'सीता' जब श्रीजनकपुरमें अवतरीं तब उनका वही नाम वहाँके अनुभवी मुनिने रखा। परन्तु यहाँ उस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई कि महाराज सीरध्वज जनकजी पुत्रप्राप्तिके लिये यज्ञभूमिको जब हलसे जोत रहे थे, उस समय हलके अग्रभागसे कन्या श्रीसीताजी प्रकट हुईं। यथा—'**तस्य पुत्रार्थं यजनभुवं कृषतः सीरे सीता दुहिता समुत्पन्ना**॥' (विष्णु पु० अंश ४ अ० ५। २८) '**द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना**' (श्रीसीतोपनिषद्) '**अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः**॥' '**क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता**।' (वाल्मी० १। ६६। १३-१४) अर्थात् श्रीजनकमहाराज श्रीविश्वामित्रजीसे कह रहे हैं कि हलसे क्षेत्रको जोतते समय 'सीता' नामकी कन्या मुझको मिली। श्रीमहारानीजीने अनुसूयाजीसे वाल्मी० अ० ११८। २८ में यही बात कही है। इन उद्धरणोंसे यह नहीं सिद्ध होता कि इसी कारणसे 'सीता' नाम पड़ा। परन्तु आनन्दरामायण सारकाण्ड अ० ३ में इसी कारणसे 'सीता' नाम होना कहा है। यथा—'**सीराग्रान्निर्गता यस्मात् सीतेत्यत्र प्रगीयते**॥' (७४) अर्थात् हलके अग्रभागसे उनका प्राकट्य हुआ, अतएव लोग उनको 'सीता' कहते हैं। (इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि हलसे जो लकीर खेतमें पड़ती है उसका नाम 'सीता' है और ये वहीं लकीरसे हलाग्रद्वारा प्रकट हुई हैं, इससे 'सीता' नाम पड़ा।)

'सीता' नामसे वन्दना करनेके और भाव ये कहे जाते हैं कि (क) यही प्रधान नाम है। जब मनु-शतरूपाजीके सामने प्रथम-प्रथम आपका आविर्भाव हुआ तब यही नाम प्रकट किया गया था। यथा—'*राम बाम दिसि सीता सोई।*' (ख) यह ऐश्वर्यसूचक नाम है। जहाँ-जहाँ ऐश्वर्य दर्शित करना होता है, वहाँ-वहाँ इस नामका प्रयोग होता है।

५ छः विशेषण देनेके भाव—(१) उद्भवस्थितिसंहार मूलप्रकृतिके कार्य हैं। इससे इनमें मूलप्रकृतिका भ्रम निवारण करनेके लिये '**क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीम्**' कहा। मूलप्रकृतिमें ये गुण नहीं हैं। वह तो दुष्टा दुःखरूपा और जीवको भवमें डालनेवाली है। यथा—'*एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥*' (३। १५) पर ये गुण '**क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीम्**' विद्यामाया एवं महालक्ष्मीके भी हैं और श्रीसीताजी तो ब्रह्मस्वरूपिणी एवं समस्त मायाओंकी परम कारण हैं। यथा—'*गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद*....॥' (१८) '*जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥*' (१। १४८) '*उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता॥ जगदंबा*....' (७। २४) '*जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत*....' (७। २४) '*माया सब सिय माया माहँ।*' (२। २५२); इसलिये '**रामवल्लभा**' कहा। यहाँ 'रामवल्लभा'='*अतिशय प्रिय करुणानिधान की।*' आगे '**रामाख्यमीशं हरिम्**' की वन्दना है। उन्हीं 'राम' की वल्लभा कहकर जनाया कि ये वही 'सीता' हैं कि जिनके अंशमात्रसे असंख्यों उमा, रमा, ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं और यह कि इनकी कृपा बिना श्रीरामरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस तरह पूर्व विशेषणोंमें जो 'अतिव्याप्ति' थी वह 'रामवल्लभा' कहनेपर दूर हो गयी। (पं० रामकुमारजी) (२) छः विशेषण देकर षडैश्वर्यसम्पन्ना, श्रीरामरूपा अर्थात् अभेद जनाया। विशेष दोहा १८ में देखिये। (३) 'सीता' नाम भी अनेक अर्थोंका बोधक है। यथा, '**लक्ष्मी सीता उमा सीता सीता मंदाकिनी मता। इन्दौरभुस्तथा सीता सीतोक्ता जानकी बुधैः**॥' (अनेकार्थे)। अतः 'रामवल्लभा' कहा। (पं० रामकुमार)

६ (क) इस श्लोकमें श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीजानकी षडक्षर-मन्त्रका भाव ही दर्शित किया है। वहाँ 'नमः' शब्द होनेसे '**नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड् योगाच्च**' (पाणिनी० २। ३। १६), इस सूत्रसे 'सीता' शब्दसे चतुर्थी हुई है। पर यहाँ उस 'नमः' के बदले 'नतः' है, अतः 'सीता' शब्दसे चतुर्थी न होकर द्वितीया हुई है। परन्तु दोनोंका अर्थ एक ही है। (ख) यहाँ श्रीसीताजीके जो छः विशेषण दिये हैं, इसमें कविका परम कौशल झलक रहा है। पाणिनिव्याकरणके अनुसार 'सीता' शब्दकी सिद्धि तथा अर्थ जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे होते हैं, वे सब भाव इन विशेषणोंसे प्रकट किये गये हैं। कहनेका आशय यह है

कि ये विशेषण 'सीता' शब्दकी व्याख्या ही समझिये। इस तरह कि (१) "**सूयते (चराचरं जगत्) इति सीता**', अर्थात् जो जगत्को उत्पन्न करती है उसका नाम 'सीता' है। यह 'सीता' शब्द '**षूङ् प्राणिप्रसवे**' इस धातुसे बनता है। इससे 'उद्भवकारिणी' अर्थ प्रकट हुआ। (२) '**सवति इति सीता।**' अर्थात् जो ऐश्वर्ययुक्त होती है उसका नाम 'सीता' है। यह सीता शब्द '**षु प्रसवैश्वर्ययोः**' इस धातुसे बनता है। इससे 'स्थितिकारिणी' अर्थात् पालन, रक्षण करनेवाली यह अर्थ प्रकट हुआ; क्योंकि जो ऐश्वर्यसम्पन्न होता है वही पालन-पोषण कर सकता है। (३-४) '**स्यति इति सीता।**' अर्थात् जो संहार करती है वा क्लेशोंका हरण करती है उसका नाम 'सीता' है। यह 'सीता' शब्द '**षोऽन्त कर्मणि**' इस धातुसे बनता है। इसमें 'संहारकारिणी' एवं 'क्लेशहारिणी' का भाव आ गया। (५) '**सुवति इति सीता।**' अर्थात् भक्तोंको सद्बुद्धिकी प्रेरणाद्वारा कल्याण करनेवाली होनेसे 'सीता' नाम है। यह 'सीता' शब्द '**षू प्रेरणे**' इस धातुसे बनता है। इससे 'सर्व-श्रेयस्करी' का अर्थ प्रकट हुआ। (६) '**सिनोति इति सीता।**' अर्थात् अपने दिव्य गुणोंसे परात्पर ब्रह्म श्रीरामजीको बाँधनेवाली (वशमें करनेवाली) होनेसे 'सीता' नाम है। यह 'सीता' शब्द '**षिञ् बन्धने**' इस धातुसे बनता है। इससे 'रामवल्लभा' विशेषण सिद्ध हुआ। (ग) कुछ पंडित 'सीता' शब्दको तालव्यादि भी मानते हैं। यथा—'**शीता नमः सरिदिति लांगलपद्धतौ च शीता दशाननरिपोः सहधर्मिणी च**' इति तालव्यादौ धरणिः॥' (अमरकोष भानुदीक्षितकृत टीका।) इसके अनुसार '**श्यायते इति शीता**' अर्थात् जो भक्तरक्षणार्थ सर्वत्र गमन करती है तथा सर्वगत अर्थात् व्यापक है अथवा चिन्मयी ज्ञानस्वरूपिणी है। यह '**शीता**' शब्द '**श्यैङ् गतौ**' धातुसे बनता है। इसमें ये सूत्र लगते हैं। '**गत्यर्थाकर्मक०**' (३। ४। ७२) **इति क्तः** '**द्रवमूर्ति०**' (६। १। २४) **इति संप्रसारणं 'हलः'** (६। ४। २) **इति दीर्घः (गति=ज्ञान। ये गत्यर्थाः ते ज्ञानार्थाः)**। इस तालव्यादि 'शीता' शब्दको भी '**पृषोदरादित्व**' से दन्त्यादि 'सीता' शब्द बना सकते हैं। उपर्युक्त सब 'सीता' शब्दोंकी सिद्धि '**पृषोदरादित्व' से** ही होती है। (घ) पं० श्रीकान्तशरणजीका कथन है कि श्रीसीतामन्त्रका प्रथमाक्षर बिन्दुयुक्त श्रीबीज है, वह श्रीशब्द '**श्रृ-विस्तारे**', '**श्रण दाने गतौ च**', '**श्रृ हिंसायाम्**' '**श्रु श्रवणे**' और '**श्रिञ् सेवायाम्**' धातुओंसे निष्पन्न होकर क्रमसे सृष्टि विस्ताररूप उत्पत्ति, स्थिति, संहारकारिणी, श्रीरामजीको जीवोंकी प्रार्थना सुनकर रक्षा करनेसे क्लेशहारिणी और चराचरमात्रसे सेवित होकर उनका कल्याण करनेसे सर्वश्रेयस्करी ये पाँच अर्थ देता है। '**श्री**' का अर्थ शोभा भी है। अपनी शोभासे श्रीरामजीको वश करनेसे उनकी वल्लभा हैं। अतः 'रामवल्लभा' श्रीका छठा अर्थ है। **श्री*** बीजके अतिरिक्त शेष चतुर्थीसहित सीता शब्द इस श्लोकके '**सीताम्**' से और मन्त्रका अन्तिम '**नमः**' शब्द यहाँके 'नतः' से अर्थमें अभेद है। अतः यह श्लोक श्रीसीतामन्त्रका अर्थ ही है।

श्रीपं० रामटहलदासजी 'युगल अष्टयाम सेवा' नामक पुस्तिकामें श्रीजानकीमन्त्रका अर्थ करते समय '**श्री**' बीजके विषयमें लिखते हैं कि 'यह श्री शब्द चार धातुओंसे बनता है जैसे '**श्रिञ् सेवायाम्**। **श्रृ-विस्तारे। श्रृ हिंसायाम्। और श्रु श्रवणे।**......।'

श्रीजानकीमन्त्रका अर्थ प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुत खोज करनेपर भी नहीं मिल रहा है। श्रीअग्रस्वामीजीने 'रहस्यत्रय' में केवल षडक्षर ब्रह्मतारक श्रीराममन्त्रका अर्थ किया है। श्रीजानकीमन्त्रका अर्थ उन्होंने भी नहीं किया है। श्रीअग्रस्वामीजीने जिस प्रकार श्रीराममन्त्रके बीजका अर्थ किया है, उसी ढंगसे हम श्रीजानकीमन्त्रके बीजका अर्थ कर सकते हैं। तदनुसार शकार श्रीजानकीजीका और रकार श्रीरामजीका वाचक है। [ध्यान रहे कि ये दोनों 'श' और 'र' लुप्त चतुर्थ्यन्त हैं। अर्थात् 'श'=श्रीसीताजीके लिये और 'र'=श्रीरामजीके लिये।] 'ईकार' का अर्थ है 'अनन्य' अर्थात् यह जीव श्रीसीतारामके लिये ही है, दूसरे किसीके लिये नहीं। [यह शब्द लुप्त प्रथमान्त है।] 'मकार' का अर्थ है जीव। महात्माओंसे इस बीजके

* यहाँ 'श्रीं' बीज ऐसा सम्भवतः होना चाहिये पर पुस्तकमें 'श्री' ही है। बीज बिन्दुयुक्त होता है, सम्भवतः हस्तदोषसे बिना बिन्दुके लिख गया।

अर्थके विषयमें एक श्लोक यह सुना जाता है। '**शकारार्थस्सीता सुछबिकरुणैश्वर्य विभवा, ईकारार्थो भक्तिः स्वपति वशयुक्त्युज्ज्वलरसा। सुरेफार्थो रामो रमण रसधामः प्रियवशो, मकारार्थो जीवो रसिकयुगसेवा सुखरतः।**' (१) यह श्लोक अगस्त्यसंहिताका बताया जाता है; परन्तु उपलब्ध अगस्त्यसंहितामें नहीं मिलता। यह अर्थ भी उपर्युक्त अर्थसे मिलता-जुलता है। श्रीरामटहलदासजी भी प्रथम व्याकरण धातुओंके द्वारा सिद्धि बताकर फिर 'अभियुक्तसारावली' का प्रमाण देकर यही बताते हैं। यथा—'**प्रोक्ता सीता शकारेण रकाराद्राम उच्यते। ईकारादीश्वरो विद्यान्मकाराज्जीव ईरितः॥ श्रीशब्दस्य हि भावार्थः सूरिभिरनुमीयते।**' (अ० ५। ५२) चित्रकूटके परमहंस श्रीजानकीवल्लभदासजीने भी अपने '**श्रीसीतामन्त्रार्थ**' (सं० १९९९ वि०) में भी लगभग ऐसा ही लिखा है।

'**श्रीं**' बीजके उपर्युक्त अर्थके अनुसार हमारे विचार यह हैं—(१) इस बीजका एक-एक वर्ण लुप्त-विभक्तिके और स्वतन्त्र अर्थका वाचक है। उपर्युक्त धातुओंसे बना हुआ जो '**श्री**' शब्द है, उसके एक-एक वर्णका स्वतन्त्र कोई अर्थ नहीं होता। (२) उपर्युक्त धातुओंसे बने हुए '**श्री**' शब्दके किसी विभक्तिका रूप '**श्रीं**' ऐसा नहीं होगा। (३) पूरे मन्त्रका समूचा अर्थ उसके बीजमें हुआ करता है जैसा कि षडक्षरब्रह्मतारक मन्त्रके अर्थमें 'रहस्यत्रय' में दिखाया गया है। यदि '**श्रीं**' बीजके जो भाव ('उद्भवस्थिति' आदि छः विशेषणोक्त) पं० श्रीकान्तशरणजीने लिखे हैं उनको ठीक माना जाय तो फिर वह मन्त्रका बीज कैसे माना जा सकेगा। क्योंकि '**श्रीसीतारामजीके लिये जीव अनन्य है**' यह मुख्य अर्थ उसमें नहीं आया। ध्यान रहे कि जो '**श्री**' शब्द श्रीजानकीजी अथवा श्रीलक्ष्मीजीका वाचक है वह यहाँ नहीं है। केवल वर्णानुपूर्वी-सदृश होनेसे '**श्रीं**' बीजमें व्युत्पन्न '**श्री**' शब्द मानकर ऐसी कल्पना की गयी है।

७ श्रीरामजीके पहले श्रीसीताजीकी वन्दनाके भाव—(१) हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त यह है कि परमात्माका ज्ञान भगवतीके अनुग्रहसे ही हो सकता है, अन्य किसी तरहसे नहीं। केनोपनिषद्‌में जो यज्ञका प्रसंग आता है उसमें कथा-सन्दर्भ यह है कि इन्द्रादि देवता असुरोंको हराकर, यह न जानकर कि भगवान्‌के दिये हुए अनेक प्रकारके बलोंसे यह विजय प्राप्त हुई है, अहङ्कारी हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमने अपने ही बलसे असुरोंको हरा दिया है, तब उनके इस गर्वको भङ्ग करके उनको यथार्थ तत्त्व सिखानेके लिये भगवान् एक बड़े भयंकर यक्षरूपसे प्रकट होते हैं और उनको पता नहीं लगता है कि यह कौन है। पश्चात् भगवच्छक्तिरूपिणी भगवती आकर उनको वास्तविक सिद्धान्त सिखाती हैं। (२) लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे भी स्वाभाविक ही है कि बच्चे तो केवल माँको जानते हैं और उससे उनको पता लगता है कि हमारा पिता कौन है। '**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव।**' (तैत्ति० शिक्षोप० ११। २) '**मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वेद।**' (स्मृतिवाक्य), इत्यादि मन्त्रोंमें माताको ही सबसे पहला स्थान दिया गया है। इसका भी कारण यही है कि माता ही आदिगुरु है और उसीकी दया और अनुग्रहके ऊपर बच्चोंका ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण निर्भर रहता है। (३) वैष्णवादि सब उपासनाग्रन्थोंमें यह नियम मिलता है कि भगवती जगन्माताके ही द्वारा भगवान् जगत्पिताके पास पहुँचा जा सकता है। (श्रीभारती कृष्णतीर्थ स्वामीजी।) श्रीसीताजीका पुरुषकार-वैभव हमने विनय पद ४१ '*कबहुँक अंब, अवसर पाइ।*' में विस्तारपूर्वक दिखाया है और आगे इस ग्रन्थमें भी दोहा १८ (७) में लिखा गया है। (४) सरकारी दरबारमें पहुँचनेके लिये ये वसीला हैं। यही क्रम विनयमें भी है और आगे चलकर इस ग्रन्थमें भी है। यथा—'*जनकसुता जगजननि जानकी।''''पुनि मन बचन कर्म रघुनायक।''''* (१। १८) (५) यह सनातन परिपाटी है कि पहले शक्तिका नाम आता है तब शक्तिमान्‌का। जैसे गौरी-शङ्कर, उमा-शिव, पार्वती-परमेश्वर, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण। (६) नारदीयपुराणमें कहा है कि प्रथम श्रीसीताजीका ध्यान करके तब श्रीराम-नामका अभ्यास करें। यथा—'**आदौ सीतापदं पुण्यं परमानन्ददायकम्। पश्चाच्छ्रीरामनामस्य अभ्यासं च प्रशस्यते॥**' (पं० रा० कु०) (७) लीलाविभूतिकी आदिकारण आप ही हैं। (८) (भूषणटीकाकार वाल्मी० १। ४। ७) '**काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।**' की व्याख्या करते हुए उसका भाव यह लिखते

हैं कि सम्पूर्ण रामायण श्रीसीताजीका ही महान् चरित्र है और इस अर्थके प्रमाणमें श्रीगुणरत्नकोशका यह प्रमाण देते हैं, '**श्रीमद्रामायणमपि परम प्राणिति त्वच्चरित्रे।**' इस भावके अनुसार भी प्रथम स्तुति योग्य ही है। (९) श्लोक ६ वन्दनाका अन्तिम श्लोक है अतः '**अशेषकारणपरम्**' की वन्दना भी अन्तमें ही उचित है। (१०) पितासे माताका गौरव दसगुणा कहा गया है। यथा—'**पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।**' (मनुस्मृति) (११) बच्चे पहले माँको ही जानते हैं। दूसरे, माताका स्नेह दूसरेको नहीं होता। श्रीगोस्वामीजी श्रीसीतारामजीमें माता-पिताका भाव रखते हैं। यथा—'*कबहुँक अंब, अवसर पाइ।*' (विनय ४१) '*कबहुँ समय सुधि द्यायबी, मेरी मातु जानकी।*' (विनय ४२) '*बाप! आपने करत मेरी घनी घटि गई।*' (विनय २५२) इत्यादि। (१२) प्रथम सीताजीकी वन्दना कर निर्मल मति पाकर तब पिता (श्रीरामजी) की वन्दना करेंगे। यथा—'*ताके जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं* (१८। ८)

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥ ६॥

शब्दार्थ—**वशवर्त्ति**=वशमें रहनेवाला; आज्ञानुसार चलनेवाला; अधीन। **वर्त्ति**=स्थित रहने, बरतने वा चलनेवाला। **विश्वमखिलम्=अखिलं-विश्वम्**=सारा जगत्। **ब्रह्मादिदेवासुरा=ब्रह्मादि देव-असुराः**=देवता और असुर (दैत्य, दानव, राक्षस)। **यत्सत्त्वादमृषैव=यत्-सत्त्वात्** (जिसकी सत्तासे)+अमृषा (यथार्थ)+**एव** (ही) **सत्त्व**=सत्ता; अस्तित्व; होनेका भाव। **भाति**=भासता है, प्रतीत होता है, जान पड़ता है। **रज्जौ**=रज्जु (रस्सी) में। **यथाऽहेर्भ्रमः** =यथा-**अहेः-भ्रमः**=जैसे साँपका भ्रम। भ्रम=सन्देह; विपरीत ज्ञान; अन्यथा प्रतीति; किसी पदार्थको कुछ-का-कुछ समझना। **यत्पादप्लव**=यत्-पाद-प्लव=जिनकी चरण नाव (हैं)। **एक**=एकमात्र। **एव**=केवल (यही)+**हि**=निश्चय ही। **भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां=भव-अम्भोधेः-तितीर्षावतां। भव**=संसार (अर्थात् संसारमें बारम्बार जन्मना-मरना)। **अम्भोधिः**=जलका अधिष्ठान=समुद्र। तितीर्षावताम्=तरने वा पार जानेकी इच्छा करनेवालोंको। **तमशेषकारणपरम्=तम्-अशेष-कारण-परम्**=सम्पूर्ण कारणोंसे परे उन=सब कारणोंका कारण, जिसका फिर कोई कारण नहीं है, जहाँ जाकर कारणोंका सिलसिला समाप्त हो जाता है और जो पर (सबसे श्रेष्ठ परम तत्त्व ब्रह्म) है उन। **रामाख्यमीशं=राम-आख्यं-ईशम्**=रामनामवाले समर्थ। हरिम्=पापरूपी दुःखों, क्लेशोंके तथा भक्तोंके मनको हरनेवाले भगवान्। '**हरिर्हरति पापानि**', '**दुःखानि पापानि हरतीति हरिः**'।

अन्वय—'**अखिलं विश्वं यन्मायावशवर्त्ति (अस्ति तथा) ब्रह्मादिदेवासुराः यन्मायावशवर्त्तिनः (सन्ति)। अमृषा सकलं यत्सत्त्वात् एव भाति यथा रज्जौ अहेर्भ्रमः। भवाम्भोधेः तितीर्षावतां हि एक एव यत्पादप्लव (अस्ति) अशेषकारणपरं ईशं हरिं रामाख्यं तं अहं वन्दे।**'

अर्थ—सारा विश्व जिनकी मायाके वशमें है और ब्रह्मादि देवता तथा असुर (भी) जिनकी मायाके वशवर्त्ती हैं, (यह) सत्य जगत् जिनकी सत्तासे ही भासमान् है, जैसे कि रस्सीमें सर्पकी प्रतीति होती है, भवसागरके तरनेकी इच्छा करनेवालोंके लिये निश्चय ही एकमात्र जिनके चरण प्लव (नौकारूप) हैं, जो सम्पूर्ण कारणोंसे परे (अथवा जो सबका कारण और पर (श्रेष्ठ) है), समर्थ, दुःखके हरनेवाले, 'श्रीराम' यह जिनका नाम है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ। ६।

नोट—१ प्रथम चरणके अन्वयमें हमने '**वशवर्त्ति**' को दो बार लिया है। कारण यह है कि '**विश्वमखिलम्**' नपुंसक लिङ्ग एक वचन है, उसके अनुसार '**वशवर्त्ति**' ठीक है। परन्तु आगेके '**ब्रह्मादिदेवासुराः**' पुँल्लिङ्ग बहुवचन हैं; इसलिये इनके अनुसार अन्वय करते समय '**वशवर्त्तिनः**' ऐसा वचन और लिङ्गका विपर्यय करना पड़ा।

टिप्पणी—१ '**यन्मायावशवर्त्ति······देवासुराः**' इति। ब्रह्मा आदि सभी श्रीरामजीकी मायाके वशवर्त्ती हैं।

यथा—'*जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥*' (७। ७२) '*सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥*' (७। ७१) '*जासु प्रबल मायाबस सिव बिरंचि बड़ छोट।*' (६। ५०) '*जीव चराचर बस कै राखे*' (१। २००) पुनः, 'अखिल विश्व' से मर्त्यलोक, 'ब्रह्मादि देव' से स्वर्गलोक और '**असुराः**' से पाताललोक, इस प्रकार तीनों लोकोंको मायावशवर्त्ती जनाया। ['**विश्वमखिलम्** से सम्भव है कि लोग चराचरके साधारण जीवोंका अर्थ लें; इसीसे इसे कहकर ईश्वरकोटिवाले ब्रह्मादिको तथा विशेष जीव जो देवता और असुर हैं उनको भी जना दिया। '**यन्माया**' से श्रीरामजीकी माया कही। देवताओं और असुरोंकी मायासे ब्रह्मादिकी माया प्रबल है और ब्रह्मादिकी मायासे श्रीरामजीकी माया प्रबल है। यथा—'*बिधिहरिहरमाया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥*' (२। २९५) '*सुनु खग प्रबल राम कै माया।*'''''*हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥*'''''*सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन॥*' (७। ६२)। इसीने सतीजीको नचाया था।] पुनः, '**यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलम्**' से सन्देह होता है कि माया चेतन वस्तु है जो सबको अपने अधीन करती है। अतः आगे '**यत् सत्त्वादमृषैव**''''''' कहकर जनाते हैं कि माया जड है, वह स्वतः शक्तिमान् नहीं है किन्तु निर्बल है, वह श्रीरामजीकी प्रेरणासे, उनकी सत्तासे, उनका आश्रय पाकर ही परम बलवती होकर सब कार्य करती है और भासती है। यथा—'*लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥*' (१। २२५) '*सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥*' (५। २१)

यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं''''''' इति।

'**अमृषा सकलम्**' इति। जगत्‌को अमृषा (सत्य) कहनेका कारण यह है कि पूर्व चरणमें इसको मायावशवर्त्ती कहा है और कुछ आचार्य लोग इसको मायिक अर्थात् मिथ्या कहते हैं। उसका निराकरण करनेके लिये ग्रन्थकार यहाँ 'अमृषा' विशेषण देते हैं।

यद्यपि वह स्वयं सत्य है तथापि उसके प्रकाशके लिये ब्रह्मसत्ताकी अपेक्षा है। अतः '**यत्सत्त्वादेव भाति**' कहा। इस विषयको समझनेके लिये कुछ सिद्धान्त बता देना आवश्यक है। वह यह है कि सृष्टिके पूर्व यह जगत् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें स्थित था और ब्रह्म उसमें व्याप्त था। ब्रह्ममें '**एकोऽहं बहु स्याम्**' आदि सृष्टिकी इच्छा हुई, तब सूक्ष्म जगत्‌में परिवर्तन होने लगा और अन्तमें वह सूक्ष्म जगत् वर्तमान स्थूलरूपमें परिवर्तित होकर हमारे अनुभवमें आया।

इस सिद्धान्तसे स्पष्ट है कि यदि ब्रह्मकी सत्ता इस जगत्‌में न होती तो वह स्वयं जड होनेके कारण न तो उसमें परिवर्तन हो सकता और न वह स्थूलरूपमें आकर हमारे अनुभवमें आ सकता था। अतः जगत्‌के अनुभवका कारण ब्रह्मकी सत्ता ही है। इसीसे '**यत्सत्त्वादेव भाति**' कहा। स्मरण रहे कि यहाँ '**अस्ति**' शब्द न देकर '**भाति**' शब्द दिया गया। अर्थात् वह सत्य तो है ही पर उसका अनुभव (प्रकाश) ब्रह्मकी सत्तासे होता है। श्रुति भगवती भी कहती हैं, '**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।**' (श्वेताश्व० अ० ६ मन्त्र १४) अर्थात् उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है। मानसमें भी यही कहा है। यथा—'*जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।*' (१। ११७) एक वस्तु सत्य होनेपर भी दूसरेकी सत्तासे उसका अनुभव होता है, इस बातके दृष्टान्तके लिये '**रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः**' कहा। सब ज्ञान सत्य है। यथा—'**यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्। श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्वप्रतीतितः।**' (श्रीभाष्य १। १। १ सत्ख्यातिसमर्थन)। अर्थात् सब ज्ञान यथार्थ ही है, क्योंकि यावद्वस्तुओंमें सर्वात्मत्वका ज्ञान श्रुति-स्मृति (तथा सद्युक्तियों) से सिद्ध है। ऐसा वेदवेत्ताओंका सिद्धान्त है। वह कभी मिथ्या नहीं होता। इसलिये यहाँ भी जो सर्पका ज्ञान है वह भी सत्य ही है। अतएव जब यह सर्पका ज्ञान सत्य है तब इस ज्ञानका विषय सर्प सत्य ही है। यद्यपि सर्प और सर्पका यह ज्ञान सत्य है तथापि यहाँपर जो सर्पका अनुभव हो रहा है,

वह रज्जुके होनेसे ही हो रहा है। यदि रज्जु यहाँपर न होती तो सर्पका अनुभव कदापि न होता। जब हमारा सर्पका ज्ञान सत्य ही है, तब रज्जुपर सर्पके अनुभवको 'भ्रम' क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि रज्जु भी सत्य है, सर्प भी सत्य है; परन्तु 'रज्जु' का जो सर्परूपसे भान होता है वह भ्रम है। इसीको शास्त्रमें 'विपरीत ज्ञान' कहा है। जिस प्रकार हम यह नहीं जानते कि रज्जुकी सत्तासे हमें सर्पका अनुभव हो रहा है; वैसे ही हम यह नहीं जानते कि ब्रह्मकी सत्तासे हमें जगत्‌का अनुभव हो रहा है। किन्तु हम यह समझते हैं कि वह अपने ही सत्तासे अनुभवमें आ रहा है। यही हमारा 'विपरीत ज्ञान' अर्थात् भ्रम है।

इस प्रसङ्गमें सर्पकी सत्यता किस प्रकार है, इसका विवरण आगे दोहा ११२ (१) में देखिये।

पं० श्रीकान्तशरणजीने 'सिद्धान्ततिलक' के उपोद्‌घातमें लिखा है कि 'श्रीरघुवराचार्यजीने सम्पूर्ण मानसकी विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तपरक टीका लिखनेकी मुझे आज्ञा दी।' (पृष्ठ २) 'इस तिलकका मुख्य उद्देश्य श्रीरामचरितमानसमें निहित विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त दिखानेका है।' (पृष्ठ ४) इससे सिद्ध होता है कि सिद्धान्ततिलकमें विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तपर अर्थ और भाव ही कहे गये हैं।

इस श्लोकके दूसरे चरणका अन्वय और अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—

अन्वय—'**यत्सत्त्वात् सकलं (विश्वं) अमृषा इव भाति। यथा रज्जौ अहेः भ्रमः।**'

अर्थ—'जिनकी सत्यतासे सम्पूर्ण जगत् सत्य-सा जान पड़ता है, जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम हो।'

इस अर्थसे यह सिद्ध होता है कि जगत्‌की अपनी सत्ता नहीं है, किन्तु परमात्माकी सत्तासे वह 'सत्य-सा' जान पड़ता है। अर्थात् वह सत्य नहीं है किन्तु मिथ्या है। पर विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त जगत्‌को सत्य मानता है। तब उपर्युक्त अर्थ विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके अनुसार कैसे माना जा सकता है? आगे इसीके 'विशेष' में '*सकलम्*' की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है। 'यहाँ जगत्‌की नानात्व (अनेकत्व) सत्ताको '*सकलम्*' शब्दसे जनाया है। जो 'सुत-वित-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत्' रूपमें प्रसिद्ध है।'''''श्रीरामजी सुत-कुटुम्बादि, चर और पृथिवी आदि अचर जगत्‌में वासुदेवरूपसे व्यापक हैं। 'उनकी प्रेरणा एवं सत्तासे ही' सब नातोंका बर्ताव एवं गन्ध-रसादिकी अनुभूति होती है।'

इस ग्रन्थ (सि० ति०) से जान पड़ता है कि '**सकलम्**' शब्दसे जड-चेतन सब पदार्थ न लेकर केवल उनके धर्म और गुण ही ग्रहण किये गये हैं जो वस्तुतः '**सकलम्**' शब्दका ठीक अर्थ नहीं होता। क्योंकि यहाँपर ब्रह्मको छोड़कर जड-चेतन सब पदार्थ और उनके गुण-धर्मादिका ग्रहण होना चाहिये। 'जिनकी प्रेरणा एवं सत्तासे' यह अर्थ जो '**यत्सत्त्वात्**' का किया गया है, उसमें 'सत्त्व' शब्दका अर्थ 'प्रेरणा' किस आधारसे किया गया है, यह नहीं बताया गया है। 'नातोंके बर्ताव एवं गन्ध-रसादिकी अनुभूति होती है' यह व्याख्या चरणके किस शब्दकी है, यह समझ नहीं पड़ता। 'सत्य-सा जान पड़ता है' अर्थमें आये हुए इन शब्दोंकी तो वह व्याख्या हो नहीं सकती। यहाँका विषय देखनेसे उनके (पं० श्रीकान्तशरणके) कथनका आशय यह जान पड़ता है कि जगत्‌की नानात्वसत्ताके अनुभवका कारण श्रीरामजीकी सत्ता है। परन्तु वस्तुतः इसका कारण अविद्या है न कि परमात्माकी सत्ता और आगे चलकर उन्होंने भी यही कहा है। 'अविद्याके दोषसे भगवान्‌के शरीररूप जगत्‌में सुत-वित-गेह-स्नेहरूप नानात्व सत्ताकी भ्रान्ति होती है।'

'**रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः**' के भावमें उन्होंने कूपके भीतर जल भरनेकी रस्सीपर मेंढकको सर्पका भ्रम होना विस्तारसे लिखा है। परन्तु रज्जुपर तो साधारण सभीको सर्पका भ्रम हो जाता है। इसके वास्ते इतनी विशेष कल्पनाकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। '**तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।**' (भा० १ मं०) की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं।—'जैसे तेजस् (अग्नि) में जल और काँच आदि मिट्टीका विनिमय (एकमें दूसरेका भ्रम) हो, उसी तरह जहाँ (भगवान्‌के शरीररूपमें) मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) अमृषा (सत्य) है, अर्थात् उनके शरीररूपमें तो सत्य है, अन्यथा मृषा है। जैसे काँचमें जलकी, अग्निमें काँचकी और जलमें अग्निकी भ्रान्ति दृष्टिदोषसे हो, वैसे अविद्याके दोषसे भगवान्‌के शरीररूप चराचर जगत्‌में

सुत-वित-देह-गेह-स्नेहरूप नानात्वकी सत्ताकी भ्रान्ति होती है।'—इसमें वे 'अग्निमें जल और जलमें अग्निकी भ्रान्ति दृष्टिके दोषसे हो' ऐसा लिखते हैं, परन्तु अग्निमें जल और जलमें अग्निका भ्रम अप्रसिद्ध है। इसको प्रसिद्ध दृष्टान्तसे समझाना था।

नोट—२ अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार '**यत्सत्त्वादमृषैव भाति**......' इस दूसरे चरणका अन्वय और अर्थ निम्न प्रकारसे होगा।

अन्वय—यत्सत्त्वात् एव सकलं अमृषा भाति यथा रज्जौ अहेर्भ्रमः (भवति)।

अर्थ—जिनकी सत्तासे ही यह सारा जगत् सत्य प्रतीत होता है, जैसे कि रस्सीमें सर्पका भ्रम होता है।

प्रायः टीकाकारोंने यही अर्थ लिखा है। इसके अनुसार भाव ये हैं—

'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं......' इति।

(अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार भावार्थ)

(क) 'जिनकी सत्तासे यह सारा विश्व सत्य जान पड़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत्में जो सत्यत्व है वह परब्रह्मका ही सत्यत्व है, जगत्का नहीं। इसपर यह शङ्का होती है कि 'जब वह सत्य है नहीं, तब वह हमें सत्य क्यों भासता है?' इसका उत्तर गोस्वामीजी प्रथम चरणसे सूचित करते हैं। वह यह कि सारा विश्व मायाके वशवर्त्ती है। अर्थात् यह मायाके कारण सत्य भासता है। '*भास सत्य इव मोह सहाया।*' (१। ११७)

ब्रह्मका स्वरूप तो निर्गुण-निराकार कहा गया है। यथा—'*एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥*' (१। १३) '*जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुरभूपा॥*' (१। १४१) निर्गुण-निराकार ब्रह्मपर सगुण-साकार जगत्का भ्रम कैसे सम्भव है? इसका समाधान यह है कि जैसे आकाशका कोई रूप नहीं है, परन्तु देखनेसे उसका रंग नीला कहा जाता है तथा उसका रूप औंधे (उलटे) कड़ाहका-सा दीख पड़ता है; वैसे ही रूपरहित ब्रह्मपर जगत्का भ्रम सम्भव है। इसपर शङ्का करनेवालेका यह कथन है कि पञ्चीकरणके कारण आकाशमें जो अष्टमांश पृथिवीका तत्त्व है, उसीके कारण यह भ्रम है, ब्रह्ममें ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जिसके कारण उसपर जगत्का भ्रम हो सके। इसपर उत्तरपक्षवाले कहते हैं कि यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे पृथिवीमें आकाशतत्त्व होनेसे इसमें भी आकाशका भ्रम हो सकता है पर ऐसी बात प्रसिद्ध नहीं है। अच्छा, मन तो अपञ्चीकृत भूतोंके सत्त्वगुणोंसे बना है और रूपरहित भी है पर स्वप्न और मनोरथ आदिमें सब जगत्-व्यवहार अनुभवमें आ जाता है। अतः अगुण, अरूप ब्रह्मपर जगत्का भ्रम होना असम्भव नहीं है।

'जो चीज कभी देखी-सुनी नहीं होती उसका भ्रम नहीं होता। अर्थात् जैसे किसीने सर्प नहीं देखा है तो उसे रस्सीपर सर्पका भ्रम नहीं होगा। उसी प्रकार जीवने पूर्व कभी जगत्को देखा है तभी तो उसे उसी जगत्का भास होता है? इससे भी जगत्का अस्तित्व सिद्ध होता है?' इस शङ्काका समाधान यह है कि यह ठीक है कि जो देखा-सुना होता है उसीका भास होता है; पर यह आवश्यक नहीं है कि वह देखा हुआ पदार्थ सत्य ही हो। जैसे कि रबर या मिट्टी आदिका सर्प देखने और सर्पके दोष सुननेपर भी रस्सीपर सर्पका भ्रम और उससे भय आदि हो सकते हैं, उसी प्रकार पूर्वजन्ममें जगत् पूर्व देखा-सुना हुआ होनेसे संस्कारवशात् इस जन्ममें भी जीवको जगत्का भ्रम होता है और पूर्वजन्ममें जो जगत्का अनुभव किया था, वह भी मिथ्या भ्रम था। इसी प्रकार पूर्वजन्ममें जो भ्रमसे जगत्का अनुभव हृदयमें बैठा हुआ है वही आगेके जन्ममें होनेवाले जगत्-अनुभवरूपी भ्रमका कारण है और संसार अनादि होनेसे प्रथम-प्रथम भ्रम कैसे हुआ यह प्रश्न ही नहीं रह जाता।

'रज्जुमें जो सर्पका भ्रम था, वह प्रकाश होनेपर नष्ट हो जाता है। अर्थात् फिर वह सर्प नहीं रह

जाता, उसी प्रकार ज्ञान होनेपर जगत् भी न रह जाना चाहिये और तब उनके द्वारा अज्ञानियोंका उपदेशद्वारा उद्धार आदि व्यवहार भी न होना चाहिये। इस तरह संसारसे मुक्त होनेका मार्ग ही बन्द हो जाता, पर ऐसा देखनेमें नहीं आता।' इस शङ्काका समाधान एक तो पञ्चदशीमें इस प्रकार किया है—'**उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते। इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किन्न संभवेत्॥**' (६। ५४) अर्थात् उपादान कारण नष्ट होनेपर भी उसका कार्य (किसी प्रसङ्गमें) क्षणभर रह जाता है। इस प्रकार नैयायिकोंने कहा है, वैसा ही हमारा क्यों न सम्भव होगा? यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है। इसके अनुसार यहाँपर भी अज्ञानरूपी कारण नष्ट होनेपर भी यह जगत्-रूपी कार्य कुछ समयतक रह जाता है। युक्तिसे भी यह बात सिद्ध होती है। जैसे रज्जु-सर्प-प्रसङ्गमें रज्जुके ज्ञानसे सर्पके अभावका निश्चय होनेपर भी उसका कार्य स्वेद, कम्प आदि कुछ देरतक रहता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानसे अज्ञान और तत्कार्य जगत्का बाध होनेपर भी कुछ समयके लिये उसकी अनुवृत्ति (आभास वा अनुभव) होती है। इसीको कहीं-कहीं 'बाधितानुवृत्ति' कहते हैं।

दूसरा समाधान यह है कि 'भ्रम' दो प्रकारका है। एक सोपाधिक, दूसरा निरुपाधिक। रबड़के सर्पपर जो भ्रम होता है वह 'सोपाधिक' है और रज्जुमें जो सर्पका भ्रम है वह निरुपाधिक है। निरुपाधिक भ्रममें जो पदार्थ भ्रमसे अनुभवमें आता है, वह विचार आदिके द्वारा भ्रमनिवृत्ति होनेपर देखनेमें नहीं आता; परन्तु सोपाधिक भ्रममें वैसी बात नहीं है। उसमें ज्ञानोत्तर भ्रमकी निवृत्ति होनेपर भी सर्पका आकार वैसा ही दीख पड़ता है। रज्जुसर्पका वैसा नहीं समझ पड़ता। इसी प्रकार भ्रमसे जो जगत्का अनुभव होता है वह सोपाधिक भ्रम है, इसीलिये ज्ञानोत्तर जगत् भी पूर्ववत् अनुभवमें आता है। ब्रह्ममें जो अनन्त शक्तियाँ हैं, उन्हींके प्रकट होनेसे जगत् अनुभवमें आता है और शक्तियाँ शक्तसे पृथक् नहीं मानी जातीं।

(ख) '**यन्मायावश**......' इस चरणमें हमें बताया है कि ब्रह्मादिसे लेकर सारा चराचर जगत् श्रीरामजीकी मायाके वश है। वह माया श्रीरामजीकी है अर्थात् माया श्रीरामजीके अधीन है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्मादि भी रामजीके वश हैं और श्रीरामजी न तो मायाके वश हैं और न ब्रह्मादिके वशमें। सारा विश्व मायाके वशवर्ती है। इस कथनसे सिद्ध होता है कि यह सारा विश्व सत्य है। '***एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥***' (१। ११८) '***जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि।***' (१। ११७) '***तुलसिदास सब बिधि प्रपञ्च जग, जदपि झूठ श्रुति गावै।***' (विनय० १२१) '***तुलसिदास कह चिद-बिलास जग बूझत बूझत बूझै।***' (विनय १२४) इत्यादिमें माया एवं मायाकार्य जगत् सब असत्य है ऐसा कहा गया है। दोनों वाक्योंमें परस्पर विरोध जान पड़ता है। इस सन्देहके निराकरणार्थ दूसरे चरणमें, '**यत्सत्त्वाद्**......' कहा। अर्थात् जगत्प्रपञ्च सत्य नहीं है किन्तु श्रीरामजीके अस्तित्वसे, उनके आश्रित होनेसे, यह सत्य भासता है। जो पूर्व चरणमें '**विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा:**' कहा था, उसीको यहाँ '**सकलम्**' से कहा गया है। दोनों पर्य्याय हैं। '**अमृषैव भाति**' से आशय निकला कि सत्य है नहीं। जब सत्य नहीं है तो हमें उसपर विचार करनेकी आवश्यकता ही क्या? यह प्रश्न उठता है। इसका उत्तर '**रज्जौ यथाऽहेर्भ्रम:**' से लक्षित कराया है। अर्थात् जबतक हम उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, उसको सत्य समझ रहे हैं, जबतक भ्रम रहेगा, तबतक वह दुःख देता ही रहेगा, जैसे जबतक रस्सीको हम सर्प समझे रहेंगे तबतक हमें भय रहेगा। यथा—'***स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक, प्रगट होइ अबिचारे। बहु आयुध धरि, बल अनेक करि हारहिं, मरइ न मारे॥ निज भ्रम ते रबिकर-सम्भव सागर अति भय उपजावै......***' (विनय० १२२) '***जदपि असत्य देत दुख अहई।***' (१। ११८) अतः उस दुःखकी निवृत्तिका इस संसाररूपी सागरके पार जानेका उपाय करना आवश्यक हुआ। तीसरे चरणमें वह उपाय बताते हैं—'**यत्पादप्लव एक एव हि**......।' वे कौन हैं और उनके प्राप्तिका साधन क्या है? यह चौथे चरणमें बताया। '**अशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्**' से नाम बताया और '**वन्दे**' यह साधन बताया। '***सकृत प्रनाम किये अपनाये।***' यह चारों चरणोंके क्रमका भाव हुआ।

(ग) 'यत्सत्त्वादमृषैव......' इति। यथा—'*जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह*

सहाया॥' (१। ११७) *'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥'* (१। ११२) **'यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमाद ध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः। असर्पभूतेऽहि विभावनं यथा रज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥'** (अध्यात्मरा० ७। ५। ३७) अर्थात् बुद्धिके भ्रमसे जो अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुकी प्रतीति होती है उसीको पण्डित-लोगोंने अध्यास कहा है। जैसे असर्परूप रज्जु (रस्सी) आदिमें सर्पकी भ्रान्ति होती है वैसे ही ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है। (पं० रामकुमारजी)।

(घ) बिना अधिष्ठानके भ्रमरूप वस्तुकी प्रतीति नहीं होती। अधिष्ठानके ज्ञान बिना करोड़ों उपाय करे परन्तु मिथ्या प्रतीति और उसके उत्पन्न हुए दुःख आदिकी निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं। श्रीगोस्वामीजी सर्पका अधिष्ठान रस्सीके यथार्थ ज्ञानसे उस भ्रमकी निवृत्ति कहते हैं। दृष्टान्तमें रज्जु और सर्प, दार्ष्टान्तमें श्रीरामजी और विश्व हैं। रस्सीकी सत्यता ही मिथ्या सर्पकी प्रतीतिका कारण है। श्रीरामजीकी सत्यता ही संसारको सत्यवत् प्रतीति करा रही है। जिसको रस्सीका यथार्थ ज्ञान है उसको मिथ्या सर्प अथवा तज्जन्य भय कदापि सम्भव नहीं। ऐसे ही जिसको श्रीरामजीकी सत्यताका दृढ़ विश्वास है, उसको संसार कदापि दुःखद नहीं। (तु० प०)

नोट—३ **'यत्पादप्लव'** इति। प्लवका अर्थ प्रायः लोगोंने **'नाव'** किया है। अमरकोशमें **'उडुपं तु प्लवः कोलः॥'** (१। १०। ११) प्लवके तीन नाम गिनाये हैं। इसपर कोई टीकाकार 'त्रयोऽल्प नौकायाः' ऐसा कहते हैं। अर्थात् ये तीनों छोटी नौकाके नाम हैं। छोटी नौकामें यह शङ्का होती है कि सागरमें नावके डूबनेका भय है वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो। नाव नदीके कामकी है। भट्टोजिदीक्षितात्मज भानुजी दीक्षित उसका अर्थ, **'त्रयं तृणादिनिर्मितं तरणसाधनस्य'** अर्थात् 'तृण आदिसे बनाया हुआ तैरनेका साधन', ऐसा करते हैं। इस तरह 'प्लव' का अर्थ 'बेड़ा' जान पड़ता है। बेड़ाको डूबनेका भय नहीं होता।

४—'एक एव हि' का भाव यह है कि यही एकमात्र उपाय है, दूसरा नहीं। यथा—*'सब कर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा॥ रघुपति भगति बिना सुख नाहीं"""। रामबिमुख न जीव सुख पावै"""। बिमुख राम सुख पाव न कोई। बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥'"""*हरि नरा भजन्ति **येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते।'** (७। १२२) यह उपसंहारमें कहा है। पुनः यथा—*'भव-जलधि-पोत चरनारबिंद जानकीरमण आनंद कंद॥'* (विनय० ६४) 'त्वदंघ्रि मूल ये नराः। भजंति हीनमत्सराः॥ पतंति नो भवार्णवे। वितर्क वीचि संकुले॥' (३। ४) यह ग्रन्थके मध्यमें कहा है।

५—**'यत्पादप्लव एक एव हि'** इति। यहाँपर शङ्का हो सकती है कि 'जब संसारसे तरनेके लिये एकमात्र यही साधन है तब श्रुतिवाक्य **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'** की संगति कैसे होगी? समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञानसे ही मोक्ष होता है, यह सर्वमान्य है, तथापि सर्वसाधारणको बिना श्रीरामजीकी कृपाके ज्ञान हो नहीं सकता और यदि हो भी जाय तो वह ठहर नहीं सकता। यथा—*'बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥'* (१। ३) *'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावइ कोऊ।'* (७। ४५) *'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'* (वेदस्तुति ७। १३) *'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥'* (७। ११९) इसीलिये *'पादप्लव'* कहकर सगुणोपासनाहीको संसार-तरणका प्रधान साधन बताया है। अर्थात् सगुणोपासना करनेपर ज्ञान, वैराग्य आदि जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होगी वह सब इसीसे प्राप्त हो जायगी। यथा—*'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥"""भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥ भोजन करिअ तृपिति हित लागी। जिमि सो असन पचवै जठरागी॥* (७। ११९) *'बिश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥'* (७। १३) अध्यात्मरामायणमें भी यही कहा है; यथा—**'अज्ञानाद्ध्यस्यते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत्। त्वज्ज्ञानाल्लीयते सर्वं तस्माज्ज्ञानं सदाभ्यसेत्॥ त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात्।**

तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि॥' (२। १ २८-२९) अर्थात् रज्जुमें सर्प-भ्रमके समान अज्ञानसे ही आपमें सम्पूर्ण जगत्‌की कल्पना की जाती है, आपका ज्ञान होनेसे वह सब लीन हो जाती है, आपके चरण-कमलोंकी भक्तिसे युक्त पुरुषको ही क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति होती है, अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे युक्त हैं वे ही वास्तवमें मुक्तिके पात्र हैं। यह देवर्षि नारदने श्रीरामजीसे कहा है।

६—पाठपर विचार—पं० रामगुलाम द्विवेदीजीकी गुटका सं० १९४५ वि० की छपी हुईमें '**प्लव एक एव हि**' पाठ है। मानसमार्तण्डकारने '**प्लवमेव भाति**' पाठ दिया है जो कोदोरामजीकी पुस्तकमें है और नंगे परमहंसजीने भी वही पाठ रखा है। सं० १६६१की पोथीमें प्रथम चार पत्रे नहीं थे। वे चार पत्रे पं० शिवलाल पाठकजीकी प्रतिसे लिखे गये हैं। उसमें '**प्लवमेकमेव हि**' पाठ है। यह पाठ संस्कृत व्याकरणके अनुसार अशुद्ध है क्योंकि अमरकोशमें '**उडुपं तु प्लवः कोलः।**' (१। १०। ११) ऐसा लिखा है। '**प्लवः**' पुँल्लिङ्ग है, '**उडुपम्**' नपुंसकलिङ्ग है। यदि '**प्लव**' नपुंसकलिङ्ग होता है तो '**प्लवम्**' ठीक होता पर नौकाके अर्थमें वह पुँल्लिङ्ग ही है। प्लवका अर्थ जब '**खस या तृण**' होता है तभी वह नपुंसक होता है। पुँल्लिङ्ग होनेसे '**प्लव एक एव**' ही पाठ शुद्ध होगा।

७—इस ग्रन्थका ध्येय क्या है? यह इस श्लोकके इस चरणसे ग्रन्थकारने स्पष्ट कर दिया है कि इसमें भवतरणोपाय बताया है और वह उपाय है श्रीरघुनाथजीकी भक्ति। यही बात मध्यमें श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसंगसे और अन्तमें श्रीभुशुण्डिजीके प्रसङ्गसे पुष्टि की गयी है। दोनों जगह ज्ञान और विज्ञान आदिकी अवहेलनापर भगवान्‌की प्रसन्नता दिखायी गयी है। भगवान्‌ने ज्ञान आदि वर माँगनेको कहा। जब उन्होंने भक्ति माँगी तब भगवान्‌ने उनको 'चतुर' विशेषण दिया है। इस तरह ग्रन्थकारने अपने सिद्धान्तपर बड़े पुरातन भक्तों और भगवान्‌की मुहर—छापें लगवा दी हैं।

८—(क) यहाँ गोस्वामीजीने माया, जीव और ब्रह्म—तीनोंके स्वरूप दिखाये हैं। मायाके वश होना जीवका स्वरूप है। यथा—'*ईश्वर अंस जीव अबिनासी।'''''सो माया बस भयउ गोसाईं॥*' (७। ११७) '*देखी माया सब बिधि गाढ़ी।'''''देखा जीव नचावै जाही॥*' (१। २०२) वशमें करना मायाका स्वरूप है और बन्धनसे छुड़ाना ब्रह्मका स्वरूप है। यथा—'*बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥*' (३। १५) (पं० राम कु०) [अथवा (ख) यों कह सकते हैं कि यहाँ क्रमशः प्रथम चरणमें जीव, दूसरेमें माया और पिछले दोनों चरणोंमें ब्रह्मके लक्षण भी ब्याजसे कहे हैं। जो मायाके वश है वह जीव है। यथा—'*माया बस्य जीव सचराचर।*' (७। ७८) और जो भ्रममें डालकर सबको वशमें किये हुए है वह माया है। जो ईश है और माया या भवसागरसे जीवको उबारता है वही ब्रह्म है।] (ग) इस श्लोकमें कर्म, ज्ञान और उपासना वेदके काण्डत्रय दिखाये हैं। '**यन्मायावशवर्ति**'''''' से कर्म, '**रज्जौ यथाहेर्भ्रमः**' से ज्ञान और '**यत्पादप्लव**''''' ' से उपासना दिखायी। (और कोई कहते हैं कि यहाँ प्रथम चरणमें विशिष्टाद्वैत, दूसरेमें अद्वैत और तीसरेमें द्वैत सिद्धान्तका स्वरूप है।)

९—'**वन्देऽहम्**' इति। पूर्व '**वन्दे वाणीविनायकौ**', '**भवानीशंकरौ वन्दे**', '**वन्दे बोधमयं**''''' ', '**वन्दे विशुद्ध-विज्ञानौ**''''' ' कहा गया और श्रीसीताजी तथा श्रीरामजीकी वन्दना करते हुए कहते हैं—'**नतोऽहं रामवल्लभाम्**' '**वन्देऽहं तमशेष**'''''।' यद्यपि '**वन्दे**' का अर्थ ही '**अहं वन्दे**' है तथापि पूर्वके चार श्लोकोंमें '**अहम्**' के न होनेसे और इन दोमें '**अहम्**' शब्दका भी प्रयोग होनेसे यह भाव निकलता है कि भक्तको अपने इष्टमें अभिमान होना ही चाहिये। यथा—'*अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥*' (३। ११) इससे यह भी जनाया है कि श्रीसीतारामजी हमारे इष्टदेव हैं, अन्य नहीं।

१०—'**अशेषकारणपरम्**' इति। अर्थात् संसारमें जहाँतक एकका कारण दूसरा, दूसरेका तीसरा इत्यादि मिलते हैं, उन समस्त कारणोंके कारण जो श्रीरामजी हैं और जिनका कोई कारण नहीं, जो सबसे 'पर' हैं, यथा, '*बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवध पति सोई॥ जगत प्रकास्य प्रकासक रामू॥*' (१। ११७) '**यस्यांशेनैव ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा अपि**

जातो महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च एकः कार्यकारणयोः परः परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव॥' पुनः, **अशेषकारण-परम्**=अनन्त ब्रह्माण्डोंका कारण और 'पर' (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ)। यथा—**'जन्माद्यस्य यतः'** (ब्रह्मसूत्र १। १। २) **'अशेषकारणपरम्'** कहकर सबके योगक्षेमके लिये समर्थ, सबके शरण्य, सर्वशक्तिमान् और जीवमात्रके स्वामी आदि होना सूचित किया। यथा—***'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।'***

११—**'रामाख्यमीशं हरिम्'** इति। 'हरि' शब्द अनेक अर्थोंका बोधक है। अमरकोशमें इसके चौदह अर्थ दिये हैं, यम, पवन, इन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह, किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, कपि, मेढक और पिंगल वर्ण। यथा—**'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्नाकपिले त्रिषु॥'** (३। ३। १७४) और 'ईश' विशेषतः शिवजीका वाचक है। यहाँ **'रामाख्यम्'** शब्द देकर सूचित करते हैं कि यहाँ 'हरि' और 'ईश' के उपर्युक्त अर्थोंमेंसे कोई भी अर्थ कविका अभिप्रेत नहीं है। यहाँ 'ईश' और 'हरि' दोनों ही 'राम'के विशेषण हैं। 'ईश' विशेषणसे जनाया कि ये चराचरके कारणमात्र ही नहीं हैं किन्तु उनकी स्थिति, पालन और संहारको अनेकों ब्रह्मा, विष्णु और महेशोंके समान अकेले ही समर्थ हैं, सबके प्रेरक, रक्षक, नियामक, नियन्ता सभी कुछ हैं। यथा—***'बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई।। बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटिसत सम संहर्ता॥'*** (७। ९२) ***'अंब ईस आधीन जग काहु न देइअ दोषु।'*** (२। २४४) 'हरि' से जनाया कि जीवोंके समस्त क्लेशोंके, समस्त पापोंके तथा समस्त जीवोंके मनको हरनेवाले हैं। **'क्लेशं हरतीति हरिः', 'हरिर्हरति पापानि'**।

पं० रामकुमारजीका मत है कि 'हरि' शब्दके अनेक अर्थ हैं। यथा— **'हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः'** इत्यादि। अतः **'रामाख्य'** कहा। 'राम' शब्दसे दाशरथि राम, परशुराम, बलराम आदिका बोध होता है। (विशेष दोहा (१९। १) ***'बंदौं नाम राम रघुबर को'*** में देखिये।) अतः अतिव्याप्तिके निवृत्त्यर्थ 'ईश' पद दिया। 'ईश' अर्थात् परम ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर, ब्रह्मादिके भी नियन्ता हैं। यथा—***'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव कर्म कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जियँ देखहु नीकें। राम रजाइ सीस सब ही के॥'*** (२। २५४) **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'** (गीता १८। ६१) अर्थात् शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मानुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। 'ईश' कहकर जनाया कि वही एकमात्र सबका शरण्य है, उसीकी शरण जाना योग्य है। यथा—**'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥'** (गीता १८। ६२) सर्वभावेन उसीकी शरण जानेसे परम शान्ति और परमधामकी प्राप्ति होगी। यह सब भाव 'ईश' विशेषण देकर जनाये। प्रथम आवरण देवताओं वा परिकर एवं परिवारका पूजन होता है तब प्रधान देवका। (श्रीसीतारामार्चन-विधि तथा यन्त्रराजपूजन-विधि देखिये।) इसी भावसे श्रीरामजीकी वन्दना अन्तमें की गयी।

१२—यह श्लोक ग्रन्थके सिद्धान्तको बीजरूपसे दिखा रहा है। इसका वर्ण्य विषय **'अशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्'** है। ये 'राम' विष्णु नहीं हैं वरंच करोड़ों ब्रह्मा, विष्णु और महेश इनके अंशमात्रसे उत्पन्न होते हैं। ये करोड़ों विष्णुसे भी अधिक पालनकर्त्ता हैं। **'यत्पादप्लव एक एव हि……'** से ग्रन्थकार बता देते हैं कि इस ग्रन्थमें भक्तिका ही प्राधान्य है। भक्ति ही भगवत्प्राप्ति एवं मोक्षकी हेतु बतायी गयी है। इन्हीं दोकी चाह **'भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्'** को होती है। श्रीरामचरणमें प्रेम अथवा मोक्ष दोनों श्रीरामजीके चरणोंकी भक्तिसे प्राप्त होते हैं। इस युगमें एकमात्र उपाय यही है। यही इस ग्रन्थका विषय है। यथा—***'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥'*** (७। ६१) ***'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।।'*** (१। १०) ***'रामचरनरति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान।।'*** (७। १२८)

वेदान्तभूषणजीका मत है कि इस श्लोकसे ग्रन्थमें आये हुए दार्शनिक सिद्धान्त 'अर्थपञ्चक' का वर्णन संक्षिप्तरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है। **'रामाख्यमीशं हरिम्'** से 'प्राप्यब्रह्म' का स्वरूप, **'वशवर्त्तिविश्व……सुरा'**

से '**प्रासाप्रत्यगात्मा**' (जीव) का स्वरूप, '**यत्पादप्लव एक एव हि**' से भगवच्चरणानुराग '**उपायस्वरूप**', '**भवाम्भोधेः**' से भवतरण '**फलस्वरूप**' और '**यन्माया**' से माया '**विरोधी स्वरूप**' कहा गया। क्योंकि माया ही स्वरूपको भुलवा देती है। यथा—'*मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमतें दारुन दुख पायो॥*' (विनय० १३६) इस प्रकार भी यहाँ 'वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण' है।

'इस प्रकार वन्दना करके कवि चाहता है कि संसारमात्र उसके रचे हुए इस काव्यके वशवर्त्ती होकर एकमात्र उसीको भवसागरसे तार देनेकी नाव और समस्त अभीष्टोंका दाता समझकर इसके आश्रित हो।'

गौड़जी—वन्दनामें चतुर कवि अपने प्रतिपाद्य विषयका भी निर्देश करता है। इस वन्दनामें मानसके प्रतिपाद्य विषयका निर्देश बहुत उत्कृष्ट रीतिसे किया गया है। 'पुराणरत्न' विष्णुपुराण एवं भक्तितत्त्वप्रतिपादक श्रीमद्भागवतमें विष्णुपरत्वका प्रतिपादन है। श्रीरामचरितमानसमें परात्पर ब्रह्म रामका प्रतिपादन है। '*उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना॥*' परन्तु साथ ही विष्णु, नारायण और ब्रह्ममें अभेद भी माना है। अद्वैत वेदान्त सृष्टि-स्थिति-संहारके कर्त्ता ईश्वरको कुछ घटा हुआ पद देता है और परब्रह्मको निर्गुण एवं परे मानता है। मानसकारने वैष्णवसिद्धान्त वेदान्तको लेकर सगुण और निर्गुणमें अभेद माना है और ईश्वरके सभी रूपोंको और समस्त विभूतियोंको एक रामका ही अवतार माना है। श्रीमद्भागवतमें भी '**अवतारा असंख्येयाः**' कहकर विष्णुके असंख्य अवतार माने हैं, परन्तु श्रीमद्भागवत विष्णुपरत्वका प्रतिपादक है। परब्रह्मको विष्णुरूपमें ही मानता है।

मानसके इस शार्दूलविक्रीडित छन्दके भाव श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणवाले शार्दूलविक्रीडित '**जन्माद्यस्य**.....**धीमहि**' से बहुत मिलता है। हम वह मङ्गलाचरण यहाँ तुलनाके लिये देते हैं।

जन्माद्यस्य यतो- } पदार्थोंमें सम्बन्ध और विच्छेदसे जिसके द्वारा इस
ऽन्वयादितरतश्चार्थे- } अखिल विश्वका जन्म, पालन और संहार है।

ष्वभिज्ञः स्वराट्—जो (पदार्थोंके विषयमें) सर्वज्ञ है और स्वतः ज्ञानसिद्ध है।

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये } आदिकवि (ब्रह्मा) के लिये जिसने हृदयद्वारा वह वेद फैलाया।

मुह्यन्ति यत्सूरयः— जिसमें विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।

तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो } जैसे तेजस् जल और काँचादि मिट्टीका विनिमय (एकमें किसी दूसरेका भासना) है।

यत्र त्रिसर्गोऽमृषा } उसी तरह जहाँ मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) (अमृषाकी तरह भासता) है।

धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं अपने प्रकाशसे त्रिकालमें (जो) माया-मुक्त (है)।

(ईशं) सत्यं परं धीमहि—(उस) सत्यका (उस) परेका हम ध्यान करते हैं।

मानसकारके दूसरे चरणमें ठीक वही बात कही गयी है जो श्रीमद्भागवतके तीसरे चरणमें है। '**सकलम्**' में '**त्रिसर्गका**' और '**रज्जौ यथाहेर्भ्रमः**' में '**तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः**' का अन्तर्भाव है। काँचमें जलका और जलमें काँचका भ्रम तेज और जल वा तेज और काँचकी सत्ताको स्वीकार करता है, इस तरह यह अन्योन्याध्यास है, द्वैत सत्ताका परिचायक है। रज्जुमें साँपके भ्रममें एक रज्जुकी ही सत्ता माननी पड़ती है। इस तरह मानसकारका दृष्टान्त अधिक उत्कृष्ट है। रज्जु ब्रह्म है, जगत् साँप है, माया भ्रम है। भागवतकारके पहले दो चरणोंका अधिकांश अन्तर्भाव मानसकारके पहले चरणमें हो जाता है। श्रीमद्भागवतवाले मङ्गलाचरणमें सीधे उसी 'पर' और 'सत्यको' स्रष्टा, पालक और संहर्त्ता ठहराया है। परन्तु मानसकारने '**ब्रह्मादिदेवासुराः**' अखिल विश्वको उसकी मायाके वशवर्ती दिखाया है अर्थात् सृष्टि-पालन-संहार क्रियाके करनेवाले देव और असुर भी उसीकी मायाके वशीभूत ही सारे व्यापार करते हैं और वेदज्ञान, एवं अखिल विश्वकी बुद्धि तथा चेतना भी उसी मायाके वशवर्त्ती हैं, कोई बचा नहीं है, यह दरसाया है। अतः जहाँ भागवतकार ईश्वरको ही '**सत्यं परं ध्येयम्**' मानते हैं वहाँ मानसकार उस '**अशेषकारणपरम् ईशम्**' को जगत्कर्त्री मायाका नाथ मानते हैं। भागवतकारके दूसरे चरणमें '**अर्थेष्वभिज्ञः स्वराट्**' अर्थात् उसी जन्मादिके कारणको 'सर्वज्ञ' और

'**स्ववश**' बताया है और '**धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्**' अपने प्रकाशसे मायान्धकारसे मुक्त दिखाया है। भाव यह है कि जीव (चित्) अल्पज्ञ, माया (अचित्) वश और मोहित है और ईश्वर सर्वज्ञ, स्ववश और मायामुक्त है। इस तरह भागवतकार ईश्वरका ही प्रतिपादन करके उसे '**सत्यं परम्**' मानते हैं। मानसकार परात्पर ब्रह्मका प्रतिपादन करके ईश्वरत्व उसके अधीन मानते हैं और '**सत्यं परम्**' की जगह 'अशेषकारणपर' कहकर परसत्यकी अधिक व्यापक और उचित व्याख्या कर देते हैं । '**ईशम्**' कहकर वह उस '**अशेषकारणपरम्**' को उस मायाका स्वामी बताते हैं जिसके वशवर्त्ती ब्रह्मादि चराचर हैं। स्वामीके मायामुक्त होनेका प्रश्न ही नहीं होता, क्योंकि उसके मायाबद्ध होनेकी ही कोई कल्पना नहीं है। ब्रह्मादि तो मायावश हैं। '*सिव बिरंचि कहँ मोहइ' को है बपुरा आन', रमा समेत रमापति मोहे॥'* ईश्वरकोटि तो मायावशवर्ती है। वह 'अशेषकारणपर' तो '*बिष्नुकोटिसम पालन कर्ता। रुद्र कोटिसतसम संहर्ता॥'* है। जो माया ऐसी प्रबला होकर भी उस 'ईश' की दासी है उसका रूप दूसरे चरणमें दिखाया है जो भागवतकारके वर्णनके अनुरूप ही है। तात्पर्य यह कि मायाका रूप जो भाँति-भाँतिके अध्यासोंसे वेदान्तमें उदाहृत किया है वह भागवतकार और मानसकारका एक-सा है परन्तु दृष्टान्त मानसकारका अधिक उपयुक्त है।

भागवतकारके '**अर्थेषु अभिज्ञः स्वराट्**' के एवं '**धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्**' के अर्थोंसे भी अधिक भावोंकी व्याप्ति मानसकारके '**ईशं हरिम्**' में है क्योंकि ईशत्वमें न केवल सर्वज्ञता और स्वाधीनता है, वरन् मायापतित्व है, दासोंका, भक्तोंका आश्रय है, और मोह हर लेने (**हरिम्**) उपासकोंको मायामुक्त कर देनेकी भी सामर्थ्य है। साथ ही '**ईशं हरिम्**' कहकर यह भी सूचित किया कि वह ईश, वह हरि, शिव और विष्णुसे अभिन्न है। यद्यपि अंशी और अंशका, अङ्गी और अङ्गका, अवतारी और अवतारका सम्बन्ध है। यह तेहरा अभेद रामचरितमानसमें साद्यन्त प्रतिपादित है। एक बातमें श्रीमद्भागवतका मङ्गलाचरण अधिक उत्तम कहा जा सकता है कि उसकी भाषा द्वैत और अद्वैतवादियोंके पक्ष-पोषक अर्थोंके घटित करनेमें भी समर्थ है, परन्तु मायाको स्पष्टरूपसे प्रतिपन्न करके मानसकारने जहाँ द्वैतवादका निरसन किया है वहाँ अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैतका पोषण भी बहुत उत्तम हुआ है। किन्तु इस परवर्ती दृष्टिसे तो मानसकारकी ही विधि उत्कृष्ट जान पड़ेगी, क्योंकि भागवतकार जहाँ जान-बूझकर सबके लिये गुंजाइश छोड़ देते हैं और 'सत्यं परम्' को व्यावहारिक अर्थमें '**निरस्तकुहकम्**' नहीं रखते, वहाँ मानसकार जिस पक्षको सत्य समझते हैं उसे असंदिग्ध और स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करते हैं, जिन्हें तोड़-मरोड़कर किसीके लिये अर्थका अनर्थ करना सम्भव नहीं है।

भागवतकारने अपने मङ्गलाचरणको गायत्रीमन्त्रके भावोंमें ग्रथित किया है, जो श्रीमद्भागवतकी विशेषताको सूचित करता है और '**धीमहि**' में गुरु-शिष्य वा वक्ता-श्रोता उभयपक्षसूचक बहुवचन है जो ठीक गायत्रीमन्त्रमें प्रयुक्त क्रियापद है, जो वैदिक व्याकरणके हो रूपमें ज्यों-का-त्यों दिया गया है। परन्तु मानसकारका यह अपना मङ्गलाचरण है, मानसके श्रोता-वक्ताका नहीं, अतः इसमें '**वन्दे**' एक वचन क्रियापद है और जहाँ भागवतकारने निर्गुणरूपका ध्यान किया है। वहाँ मानसकारने सगुणब्रह्मके चरणोंकी वन्दना की है। '**परं सत्यम्**' की पूरी व्याख्या '**अशेषकारणपरम्**' से ही हो सकती है। क्योंकि सबसे परे नित्य-सत्य वही हो सकता है, जो सबसे परे, सब कारणोंका कारण हो, जहाँ जाकर कारणोंका सिलसिला खतम हो जाता हो। '**परं ब्रह्म परं तत्त्वं परं ज्ञानं परं तपः। परं बीजं परं क्षेत्रं परं कारणकारणम्॥**'* '**रामाख्यम्**' शब्द तो रामचरितमानसके सम्पूर्ण ग्रन्थका बीजमन्त्र ही है। 'राम' शब्दका अर्थ है, '*जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक्य सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा।*' उस '**ईशम्**' की मैं वन्दना करता हूँ जिनका ऐसा 'राम' नाम है, जिन्होंने अखिल लोकोंको विश्राम देनेके लिये ईश होते हुए भी मायामानुषरूप धारण किया है। '**रामवल्लभाम्**' वाले रामकी ही व्याख्या इस सम्पूर्ण छन्दमें वन्दनाके व्याजसे वर्णित हैं।

* गोस्वामीजीने क० सु० २५ में श्रीरामजीको 'विराट्‌रूप भगवान्'का भी रक्षक कहा है। यथा, 'रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर……।'

निदान भागवतकारके चारों चरणोंके भाव मानसकारने अपने मङ्गलाचरणमें व्यक्त कर दिये। साथ ही इतना करके भी मानसकारने वह बात और दी है जो भागवतकारने स्पष्टरूपसे इस छन्दमें व्यक्त नहीं कर पायी और जो दूसरे ढंगपर उसके आगेके शार्दूलविक्रीडितमें उन्होंने दी है। मानसकारने '**पादप्लवम्**' कहकर सगुणरूपका ध्वन्यात्मक प्रतिपादन भी किया है और भक्तोंके भवसागर पार होनेके लिये स्तुतिके व्याजसे उपासना-मार्गका भी उपदेश किया है। ध्वनिसे पहले चरणमें कर्म और दूसरेमें ज्ञान कहकर तीसरेमें उपासनाद्वारा उद्धारकी विधि दिखायी है, बड़ी चमत्कारिक रीतिसे तीनों विधियोंके ध्येय भगवान् रामचन्द्रकी वन्दना की है।

गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतकी छाया अनेक स्थलोंपर ग्रहण की है, परन्तु भावचित्रण बिलकुल निजी ढंगपर किया है जिससे भावापहरणका दोष उनपर नहीं लग सकता। उन्होंने 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' लिखा ही है, परन्तु मूल स्रोत चाहे जो हो उन्होंने अपनी अमृतप्रसविनी लेखनीसे उसमें नयी जान डाल दी है। भागवतकारका मङ्गलाचरण जितना क्लिष्ट है, मानसकारका उतना ही प्रसादगुणपूरित है जिसमें उन्होंने व्यञ्जनासामर्थ्यसे अपनी रचनाको मूलरूप और भागवतके मङ्गलाचरणको छाया बना डाला है। मङ्गलाचरणवाला यह शार्दूलविक्रीडित उनकी उन अनुपम रचनाओंमेंसे है, जिसके आशयोंकी गम्भीरतामें जितने ही डूबिये उतने ही अर्थ-गौरवके रत्न मिलते हैं।

नोट—१४ (क) यह श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्दमें है। शार्दूल अर्थात् सिंह श्रेष्ठ पराक्रमशाली होता है। इसी विचारको लिये हुए शार्दूलविक्रीडित छन्दमें अपने उपास्य इष्टदेवका मङ्गलाचरण करके कविने सूचित किया है कि श्रीरामजीके समान पराक्रमवाला चौदहों भुवनोंमें कोई नहीं है। (ख) गोस्वामीजी इस ग्रन्थमें सर्वमतोंका प्रतिपादन करते हुए भी किस चतुरता और खूबीसे अपनी उपासनाको दृढ़ गहे हुए हैं, यह बात इस श्लोकमें भी विचार देखिये। (ग) छन्दका स्वरूप यह है। '**आद्याश्चेद्गुरवस्त्रयः प्रियतमे! षष्ठस्तथा चाष्टमो नन्वेकादशतस्त्रयस्तदनुचेदष्टादशाद्यौ ततः। मार्तण्डैर्मुनिभिश्च यत्र विरतिः पूर्णेन्दुबिम्बानने! तद्वृत्तं प्रवदन्ति काव्यरसिकाः शार्दूलविक्रीडितम्॥**' (श्रुतबोधः ४२) इसके प्रत्येक चरणमें १९ अक्षर होते हैं और चरणका स्वरूप यह है कि क्रमशः '**मगण सगण जगण सगण तगण**' के वर्ण आते हैं और प्रत्येक चरणके अन्तका वर्ण गुरु होता है। यहाँ '**यन्माया**' मगण (=तीनों वर्ण गुरु) '**वशव**' सगण (=अन्त वर्ण गुरु), '**र्त्तिविश्व**' जगण (=मध्य वर्ण गुरु), '**मखिलम्**' सगण, '**ब्रह्मादि**' और '**देवासु**' दोनों तगण (=अन्त वर्ण लघु), के स्वरूप हैं, अन्त वर्ण 'रा' गुरु है। इसी तरह आगेके तीनों चरणोंमें देख लीजिये।

मङ्गलाचरणके श्लोकोंके क्रमका भाव

१ पं० रामकुमारजी—'प्रथम गणेशजी पूजनीय हैं, इस वचनको सिद्ध किया। जिस कामके लिये वन्दना है उसके आचार्य शङ्करजी हैं। इससे गणेशजीके बाद शिवजीकी वन्दना की। फिर गुरुदेवकी वन्दना की, क्योंकि '*मैं पुनि निज गुरुसन सुनी।*' पुनः रामचरितके मुख्यकर्ता वाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्जी हैं। पुनः, इस चरित्रके प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं। अतः उनकी इष्टरूपसे वन्दना की। इसके पश्चात् उन (श्रीसीतारामजी) की कथा की, जो उनका मुख्य वर्ण्य विषय है, प्रतिज्ञा की।

२—श्रीबैजनाथदासजी—प्रथम पाँच श्लोकोंमें 'नाम, लीला, धाम, रूप' का प्रचार पाया जाता है। अतः उनके अधिकारियोंकी वन्दना की। प्रथम श्लोकको विचार कर देखिये तो रेफ ( ) और अनुस्वार ( ) ही दिखायी देगा, श्रीरामनामके ये दोनों वर्ण वाणीके विशेष स्वामी हैं, ऐसा अर्थ '**वाणीविनायकौ**' का करनेसे प्रथम श्लोकमें श्रीरामनामकी वन्दना हुई। श्रीरामनामके परम तत्त्वज्ञ एवं अधिकारी श्रीभवानी-शङ्करकी वन्दना श्लोक २ में है। गुरु शङ्कररूप अर्थात् विश्वासरूप हैं। श्रीरामनाममें विश्वास कराते हैं। इस तरह ये तीन श्लोक नामसम्बन्धी हुए। श्लोक ४ में 'ग्राम' और 'अरण्य' से धाम और 'गुण' से लीला सूचित की। अस्तु, इनके अधिकारी श्रीहनुमान्जी और श्रीवाल्मीकिजीकी वन्दना की। रूपकी अधिकारिणी

श्रीसीताजी हैं। इनके द्वारा श्रीरामरूपकी प्राप्ति होती है। अतः उनके बाद श्रीरामजीके ऐश्वर्य एवं माधुर्यरूपकी वन्दना की। सातवें श्लोकमें काव्यका प्रयोजन कहा।

३—वर्ण और अर्थकी सिद्धि किसी भी कवि या ग्रन्थकारकी सहज ही इष्ट होती है, वह उसका परम प्रयोजनीय विषय है। अतः कविने कविपरम्परानुकूल वाग्देवताकी, अक्षर-ब्रह्मकी, शक्तिकी वन्दना की। जैसे श्रीसरस्वतीजी श्रीरामचरित्र सम्भाषणमें अद्वितीय हैं वैसे ही श्रीगणेशजी लिखनेमें। जो उनके मुखसे निकला आपने लोकप्रवृत्तिके निमित्त उसको लिखकर दृष्टिगोचर कर दिया। इसी परस्परके सम्बन्धसे दोनोंकी योजना प्रथम श्लोकमें की। पुनः भूत-भविष्य-वर्तमानमें श्रीरामयशगान करनेका कवियोंने जो साहस किया है वह आपहीकी कृपासे तो! गोस्वामीजीको श्रीरामचरित्रकथन करना है और वह जब जिसने कहा है तब इन्हींकी कृपासे तो। अतः इनकी वन्दना प्रथम उचित ही है।

श्रीरामचरितमानसके श्रवण और कीर्तनके आदिकारण श्रीउमाशङ्कर ही हैं एवं कथाश्रवण और नामस्मरणमें मुख्य श्रद्धा और विश्वास ही हैं जिनके बिना उनका वास्तविक रस प्रतीत ही नहीं होता। यदि श्रद्धा-विश्वास बिना ही कथाश्रवण अथवा नामस्मरण किया तो फल तो अवश्य होगा, परंतु यथार्थ स्वाद उसका अपनी आत्माको अनुभव नहीं होगा। जैसे चित्तकी एकाग्रता बिना कोई वस्तु पाये तो भूख-निवृत्ति और शरीरकी पुष्टि आदि जो गुण उस पदार्थके हैं वे तो अवश्य ही होंगे, परंतु स्वाद उसका जैसा है वैसा कदापि प्रतीत न होगा।

अब यह देखना है कि श्रद्धा और विश्वास होनेपर और तो किसीकी अपेक्षा नहीं? उसका समाधान तीसरे श्लोकसे करते हैं। श्रद्धा-विश्वासयुक्त होकर श्रीगुरुमहाराजके शरणमें यदि जावे तो कुटिल होनेपर भी वन्दनीय होगा। यह टेढ़ा काव्य भी जो श्रीगुरुमहाराजके आश्रित होकर कह रहा हूँ सर्वत्र वन्दनीय होगा। क्या और भी कोई इसके श्रवण-कीर्तनके रसिक हैं? इसपर चौथा श्लोक कहा। दोनों महानुभाव श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीतारामजीके चारु-चरित्रके परम ऋषि एवं कवि हैं। अतः उनके चरित्रकी सिद्धिके लिये उनका स्मरण परम वाञ्छनीय कर्तव्य है। अन्तमें इन दोनों श्लोकोंमें उनके इष्ट देवताद्वयकी वन्दना की।

वन्दनाके ६ श्लोक हैं। पाँच श्लोकोंमें 'वन्दे' शब्द दिया है और श्रीसीताजीके निमित्त 'नतः' पद दिया है। इसी तरह आगे भी श्रीमद्गोस्वामीजीने अन्य सब देवादिकी वन्दना 'बंदउँ' ही पदसे की है। ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं तो भी कुछ महानुभावोंका मत है कि केवल यहाँ शब्द बदलकर रखनेमें कुछ विलक्षण अभिप्राय अवश्य है और वह यह है कि इस पदका प्रयोग करके माताके प्रति प्रीत्याधिक्यता दर्शाया है।

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥ ७॥

शब्दार्थ—१ पुराण=भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीने अठारह पुराण बनाये हैं। पुराणका लक्षण श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है, 'सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च। वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः॥ ९॥ दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।'(१०) (१२। ७) अर्थात् सर्ग (महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और मनकी उत्पत्ति), विसर्ग (जीवोंसे अनुगृहीत सूक्ष्म रचनाके वासनामय चर और अचर सृष्टिकी रचना), वृत्ति, रक्षा (अच्युतभगवान्‌के अवतारकी चेष्टा), मन्वन्तर (मनु, देवता, मनुपुत्र, इन्द्र, ऋषि और श्रीहरिके अंशावतार—ये छः प्रकार), वंश (ब्रह्मप्रसूतराजाओंकी त्रैकालिक अन्वय), वंशानुचरित (वंशको धारण करनेवाले प्रधान पुरुषोंके चरित), संस्था (नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक चार प्रकारके लय), हेतु (सृष्टि आदिका अविद्याद्वारा करनेवाला जीव) और अपाश्रय (मायामय जीवोंकी वृत्तियोंमें और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंमें जिसका व्यतिरेकान्वय हो वह ब्रह्म) इन दस

लक्षणोंसे युक्त ग्रन्थको पुराण कहते हैं। उनके नाम इस श्लोकमें सूक्ष्मरीतिसे हैं। **'मद्वयं भद्वयं शैवं वत्रयं ब्रत्रयं तथा। अ ना प लिं ग कू स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्॥'** (महिम्नस्तोत्र मधुसूदनीटीका) मकारवाले दो 'मत्स्यपुराण, मार्कण्डेयपुराण', भकारवाले दो 'भविष्य, भागवत', शिवपुराण, व वाले तीन विष्णु, वाराह, वामन; ब्र वाले तीन 'ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त', अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म, स्कन्द। इसी प्रकार अठारह उपपुराण भी माने जाते हैं जिनके नाम गरुड़पुराण अ० २२७ श्लोक १—४ में ये हैं। आदिपुराण, नृसिंहकुमारका बनाया हुआ स्कन्द, नन्दीशका शिवधर्म, दुर्वासा, नारद, कपिल, वामन, औशनस, ब्रह्माण्ड, वारुण, कालिका, महेश्वर, साम्ब, सौर, पाराशर, मारीच और भास्कर। २—**निगम**=वेद। वेद चार हैं। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व। इनके चार उपवेद भी हैं। ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेदका गान्धर्ववेद और अथर्वका अर्थशास्त्र उपवेद है। उपवेदोंके भी अनेक भेद हैं। वेद षडङ्गयुक्त हैं अर्थात् इनके छः अङ्ग माने गये हैं; वेदोंको समझनेके लिये इन छहों अङ्गोंका जानना परमावश्यक है। ये छः अङ्ग ये हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादिसे युक्त स्वर और व्यञ्जनात्मक वर्णोंके उच्चारण-विशेषका ज्ञान कराना 'शिक्षा' का प्रयोजन है। क्योंकि इनके यथार्थ ज्ञानके बिना मन्त्रोंका अनर्थ ही फल होता है। यह पाणिनिने ही प्रकाशित किया है। वेदके पदोंकी शुद्धताको जान लेनेके लिये 'व्याकरण' प्रयोजनीय है। पाणिनिने आठ अध्यायोंका सूत्रपाठ बनाया है जो 'अष्टाध्यायी' नामसे प्रसिद्ध है। इसीपर कात्यायनमुनि वररुचिने वार्तिक और पतञ्जलिने महाभाष्यको रचना की है। इन्हीं मुनित्रयके बताये हुए व्याकरणको वेदाङ्ग अथवा माहेश्वरव्याकरण कहा जाता है। अन्य लोगोंके व्याकरण वेदाङ्ग नहीं हैं। इसी तरह वेदके मन्त्रपदोंका अर्थ जाननेके लिये यास्कमुनिने तेरह अध्यायोंमें 'निरुक्त' की रचना की है। इसमें पदसमूहोंका—नाम, आख्यात, निपात और उपसर्गके भेदसे चार प्रकारका निरूपण करके वैदिक मन्त्रपदोंका अर्थ दिखलाया है। निघंटु, अमरसिंह एवं हेमचन्द्रादिके कोष भी निरुक्तहीके अन्तर्गत हैं। ऋग्वेदके मन्त्र पादबद्ध छन्दविशेषसे युक्त हैं और किसी-किसी अनुष्ठानमें छन्दविशेषहीका विधान किया गया है। अतएव छन्दोंका जानना भी आवश्यक हुआ, क्योंकि बिना उसके ज्ञानके कार्यकी हानि और निन्दा होती है। इसीलिये भगवान् पिंगलनागने आठ अध्यायोंमें सूत्रपाठ बनाया है, जिसका नाम 'पिंगलसूत्र' है। इसके तीन अध्यायोंमें गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती—इन सातों वैदिक छन्दोंको अवान्तर भेदोंके साथ सविस्तर वर्णन किया है। फिर पाँच अध्यायोंमें पुराण-इतिहासादिके उपयोगी लौकिक छन्दोंका वर्णन है। वैदिक कर्मोंके अङ्ग दर्श (पौर्णमासी) इत्यादि काल जाननेके लिये ज्योतिष भी आवश्यक है, जिसे भगवान् सूर्यनारायण तथा गर्गादि अठारह महर्षियोंने बहुत प्रकारसे विरचा है। यों ही भिन्न-भिन्न शाखाके मन्त्रोंको मिलाकर वैदिक अनुष्ठानोंके विशेष कर्मोंको समझनेके लिये 'कल्पसूत्र' बने हैं। ३—**आगम**=**'आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥'** (पद्मचन्द्रकोष और श्रीधरभाषाकोष) अर्थात् शिवजीके मुखसे निकला हुआ और पार्वतीजीके कानोंमें पड़ा हुआ और वासुदेवभगवान्‌का जिसमें सम्मत है उसको 'आगम' कहते हैं।—तन्त्रशास्त्र। पुनः, तन्त्र और अतन्त्र दोनों 'आगम' कहलाते हैं। तन्त्र तीन प्रकारके होते हैं—शैव, बौद्ध और कपिलोक्त। अतन्त्र अनेक हैं। तन्त्र और अतन्त्रका अटकल लगाया जाय तो ढाई हजार (२५००) से अधिक होंगे। यह तो हुआ कोशोंके अनुसार। गोस्वामीजीने अनेक स्थलोंमें प्रमाणमें आगम, निगम और पुराण—इन तीनोंको दिया है। यथा—*'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान।'* (१। १२) *कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥'* (१। ५१) *'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।'* (१। १०३) *'धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।'* (२। ९५) *'सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान।'* (२। २३७) *'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना।'* (२। २९३) इत्यादि। श्रीरामायणजीकी आरतीमें गोस्वामीजी लिखते हैं, *'गावत बेद पुरान अष्टदस, छओ शास्त्र सब ग्रंथनको रस।'* इसमें वेद, पुराण और छहों शास्त्रोंका इस रामायणमें होना कहते हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने 'आगम' को षड्शास्त्र वा षड्दर्शनका पर्य्याय

माना है। अतएव **आगम**=षड्दर्शन। प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, जगत्‌के नियामक धर्म, जीवनके अन्तिम लक्ष्य इत्यादिका जिस शास्त्रमें निरूपण हो उसे 'दर्शन' कहते हैं। उपनिषदोंके पीछे इन तत्त्वोंका ऋषियोंने सूत्ररूपमें स्वतन्त्रतापूर्वक निरूपण किया। इस तरह छः दर्शनोंका प्रादुर्भाव हुआ। वे ये हैं—सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। 'सांख्यमें' सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमका विस्तारसे जितना विवेचन है उतना और किसीमें नहीं है। उसके अनुसार आत्मा अनेक हैं। उसमें परमात्माका प्रतिपादन नहीं है। सृष्टिको प्रकृतिकी परिणामपरम्परा माननेके कारण यह मत 'परिणामवाद' कहलाता है। 'योग'में मोक्षप्राप्तिके निमित्त यम, नियम, प्राणायाम, समाधि इत्यादिके अभ्यासद्वारा ध्यानकी परमावस्थाकी प्राप्तिके साधनोंका ही विस्तारसे वर्णन है। इसमें क्लेश, कर्मविपाक और आशयसे रहित एक ईश्वर माना है। 'न्याय' में ईश्वर नित्य, इच्छा ज्ञानादि गुणयुक्त और कर्त्ता माना गया है। जीव कर्त्ता और भोक्ता दोनों माना गया है। इसमें तर्क करनेकी प्रणाली खंडन-मंडनके नियम मिलते हैं, जिनका मुख्य विषय प्रमाण और प्रमेय है। 'वैशेषिक'में द्रव्यों और उनके गुणोंका विशेष निरूपण है। न्यायसे इसमें बहुत कम भेद है। ये दोनों सृष्टिका कर्त्ता मानते हैं; इसीसे इनका मत 'आरम्भवाद' कहलाता है। 'पूर्वमीमांसा' का मुख्य विषय वैदिक कर्मकाण्डकी व्याख्या है। 'उत्तरमीमांसा' वेदान्त है। ब्रह्मजिज्ञासा ही इसका विषय है। सांख्यके आचार्य कपिलदेवजी, विषय प्रकृति-पुरुष-विवेक और दुःखनिवृत्ति प्रयोजन हैं। योगके आचार्य पतञ्जलमुनि और चित्तका निरोध प्रयोजन है। वैशेषिकके आचार्य कणाद ऋषि, पदार्थ विषय और उसका ज्ञान प्रयोजन है। न्यायके आचार्य गौतमजी हैं, पदार्थज्ञान प्रयोजन है। पूर्वमीमांसाके आचार्य जैमिनिजी, कर्मकाण्डधर्म विषय और धर्मका ज्ञान प्रयोजन है। वेदान्तके आचार्य व्यासजी, ब्रह्मका ज्ञान विषय और अज्ञानकी निवृत्ति, परमानन्दकी प्राप्ति प्रयोजन है। ४—**सम्मत**=राय, सिद्धान्त, जिसकी राय मिलती हो; सहमत। **यद्रामायणे**=यत् (जो वा जिस) रामायणमें। **निगदितं**=कथित; कहा हुआ। **क्वचिदन्यतोऽपि**=**क्वचित्**-अन्यतः अपि=कुछ किसी और स्थानसे वा कहीं औरसे भी। **स्वान्तः**=स्व-अन्तः=अपने अन्तःकरणके। **निबंधमतिमञ्जुलमातनोति**=निबन्धं-अति-मञ्जुलं-आतनोति=अत्यन्त सुंदर निबन्ध विस्तार करता है अर्थात् बनाता है। **निबन्ध**=वह व्याख्या (काव्य) जिसमें अनेक मतोंका संग्रह हो।

नोट—१ इस श्लोकका अर्थ कई प्रकारसे लोग करते हैं। अतएव मैं यहाँ कुछ प्रकारके अन्वय और उनके अर्थ तथा उनपर टिप्पणी देता हूँ।

अन्वय—१ **यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे) नानापुराणनिगमागमसम्मतं निगदितं (अस्ति) क्वचित् अन्यतः अपि निगदितं (अस्ति) तत् तुलसी स्वान्तःसुखाय अति मञ्जुलं श्रीरघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति।**

अर्थ—१ जिस रामायणमें अनेक पुराण, वेद और शास्त्रोंका सम्मत कहा गया है और कुछ अन्यत्रसे भी कहा गया है, उस रामायणको तुलसीदास अपने अन्तःकरणके सुखके लिये अत्यन्त सुन्दर रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध (काव्यरूप) में विस्तारसे कहते हैं।

नोट—२ इस अन्वयके अनुसार गोस्वामीजी कोई नयी रामायण लिखने नहीं बैठे, किन्तु किसी रामायणको भाषाकाव्यमें करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं जिसमें यह सब कथा है। वह रामायण कौन है इसपर आगे लेखमें विचार किया गया है।

अन्वय—२ **यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे)** नानापुराणनिगमागमसम्मतं **निगदितं (अस्ति) क्वचित् अन्यतः अपि निगदितम् (अस्ति) अति मञ्जुलं रघुनाथगाथाभाषानिबन्धं तत् तुलसी स्वान्तःसुखाय आतनोति।**

अर्थ—२ जिस रामायणमें नाना पुराण, वेद और शास्त्रोंका सम्मत कहा गया है और कुछ अन्यत्रसे भी कहा गया है ऐसी अति सुन्दर श्रीरघुनाथकथा भाषाकाव्य रामायण तुलसीदास अपने अन्तःकरणके सुखके लिये अति सुन्दर विस्तारसे बनाता है।

नोट—३ इस अन्वयके अनुसार गोस्वामीजी कहते हैं कि हमने इस रामचरितमानसमें जो कहा है, वह नाना पुराणनिगमागमसम्मत है और इनके अतिरिक्त भी इसमें कुछ और भी कहा गया है।

अन्वय—३ **यत् रामायणे निगदितं (अस्ति) यत् नानापुराणनिगमागमसम्मतं (अस्ति) तत् क्वचिदन्यतः अपि तुलसी स्वान्तःसुखाय अतिमञ्जुलं रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति।**

अर्थ—३ जो रामायणमें कहा गया है और जो नाना पुराणनिगमागमसम्मत है, उसको और कुछ अन्यत्रसे भी (लेकर) तुलसीदास अपने अन्तःकरणके सुखके लिये अत्यन्त सुन्दर रघुनाथगाथाभाषाकाव्यमें विस्तार करता है।

नोट—४ 'रामायण' शब्द जब अकेला आता है तो प्रायः उससे वाल्मीकीय रामायणका बोध कराया जाता है। मानसमें भी वाल्मीकिजीकी वन्दनामें 'रामायन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा—'*बंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ।*' (१। १४) इसलिये यहाँ भी 'रामायणे'से वाल्मीकीयका अर्थ लेकर अन्वय किया गया है। इसके अनुसार गोस्वामीजी कहते हैं कि वाल्मीकीयमें जो कहा गया है, वह नाना पुराणनिगमागमसम्मत है; हम उस कथाको देते हैं और अन्यत्रसे भी कुछ प्रसङ्ग लिये हैं वह भी देते हैं।

अन्वय—४ **यत् नानापुराणसम्मतम्, यत् निगमसम्मतम्, यद् आगमसम्मतम्, यद् रामायणे निगदितं (एवं) क्वचिद् अन्यतः अपि यन्निगदितम्, तत् सम्मतं, तुलसी (दासः) स्वान्तःसुखाय अतिमञ्जुलं रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति।** (पं० रामकुमारजी)

अर्थ—(इसका अर्थ मेरी समझमें वही है जो अन्वय ३ का है।)

अन्वय ५—**यत् रामायणे निगदितं तत् तुलसी स्वान्तःसुखाय, क्वचिद् अन्यतः अपि, नानापुराणनिगमागमसम्मतं अतिमञ्जुलम्**……।

अर्थ—४ जो रामायणमें कहा गया है उसे तुलसीदास अन्तःकरणके सुखके लिये और कुछ अन्यत्रका भी लेकर नाना पुराणनिगमागमसम्मत अत्यन्त सुन्दर……।

नोट—५ इस अन्वयके अनुसार वे कहते हैं कि जो रामायणमें है वह मैं कह रहा हूँ और अन्यत्रके भी प्रसङ्ग कहे हैं; ये सब नाना पुराणनिगमागमसम्मत हैं।

नोट—६ '**नानापुराणनिगमागमसम्मतं**……' इति। (क) पं० रामवल्लभाशरणजी लिखते हैं कि, कोई वस्तु हो बिना दृष्टान्तके उसका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता। दृष्टान्तके निमित्त राजाओंके त्रिगुणात्मक चरित पुराणोंमेंसे इसमें कहे गये हैं। जैसे—'*सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥*' (२। ४८), '*सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥*' (२। २२९), '*ससि गुरतियगामी नहुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान। लोक बेद तें बिमुख भा अधम न बेन समान॥*' (२। २२८) इत्यादि। ऐसे ही और भी बहुत-सी कथाएँ पुराणोंसे आयीं। धर्माधर्मके विवेचनमें स्मृतियोंका आशय लिया गया है। यथा—'*नारिधरम सिखवहिं मृदु बानी।*' (१। ३३४), '*कहहिं बसिष्ठु धरम इतिहासा। सुनहिं महीसु सहित रनिवासा॥*' (१। ३५९), 'निगमागमसम्मतम्' अर्थात् चारों वेदों, चारों उपवेदों और छओं शास्त्रोंका सम्मत भी इसमें है। वेद कर्म, उपासना और ज्ञानमय त्रिकाण्डात्मक हैं। उसके विषयोंके उदाहरण कर्मकाण्ड, यथा—'*करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥*' (२। २१९), '*कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥*' (२। २८२), '*कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्मफल दाता॥*' (७। ४१) उपासना, यथा—'*सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि॥*' (७। ११९), '*तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥*' (७। ११९), '*बारिमथें घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल। बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥*', 'विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे। हरि नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥' (७। १२२), '*भगति सुतंत्र सकल सुखखानी।*' (७। ५) ज्ञानकाण्ड, यथा—'*सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीच इव गावहिं बेदा॥*' (७। १११), '*ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥*' (३। १५) (तु० प० १९७४)।

प्रश्न—पुराणोंमें तो श्रीरामावतारसम्बन्धी चरित अत्यन्त अल्प अंशमें मिलता है। इसी तरह उपलब्ध

उपनिषदोंमेंसे केवल दो-चारके अतिरिक्त और किसीमें रामचरितकी चर्चा ही नहीं है। वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) में तो 'राम' शब्द भी नहीं है। गीतामें केवल एक जगह विभूतिवर्णनमें राम' शब्द आया है। '**रामः शस्त्रभृतामहम्।**' (१०। ३१) यह 'राम' शब्द भी 'परशुराम' के ही लिये समझा जायगा, क्योंकि भागवतमें '**भार्गवो शस्त्रभृतां वरिष्ठः।**' परशुरामजीके लिये आया है। प्रस्थानत्रयीकी तरह अन्य दर्शनोंका भी यही हाल है। इतिहासमें केवल वाल्मीकीय रामायणमें प्रधानरूपसे श्रीरामचरित है इत्यादि। तब यह कैसे कहा जाता है कि नाना पुराणादिका सिद्धान्त एकमात्र 'श्रीरामचरित' ही है।

उत्तर—हमारे पूर्वज स्वात्माराम महर्षियोंने अनुभव करके यह बतलाया है कि समस्त वेद, वेदाङ्ग और वेदवेदाङ्गविद् महर्षि 'भक्ति या ज्ञानादिद्वारा प्राप्य ब्रह्म, उपायद्वारा ब्रह्मको प्राप्त करनेवाले जीव, ब्रह्मप्राप्तिके उपाय, ब्रह्मप्राप्तिसे जीवको क्या फल मिलेगा और ब्रह्मप्राप्तिमें बाधा डालनेवाले विरोधीके स्वरूपों' अर्थात् इन्हीं पाँच अर्थोंको कहते हैं। यथा—'**प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥ वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः॥**' (महर्षि हारीतजी) इतिहास-पुराणादिमें अनेक कथाएँ कहकर उपर्युक्त पाँचों बातें ही समझायी गयी हैं और प्रस्थानत्रयीमें तो केवल इन्हीं पाँचों अर्थोंका ही विवरण है अन्य नहीं, परन्तु क्रमशः महाभारत स्वर्गारोहणपर्वमें भी कहा है कि '**वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥**' इसका भी तात्पर्य यह है कि समस्त सच्छास्त्रोंमें उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार (आदि, मध्य और अन्तमें) श्रीहरिको ही कहीं उपायरूपसे और कहीं उपेयरूपसे कहा गया है; न कि उनमें अवतार-विशेषका चरित्र ही चित्रण किया है।

नोट—७ अन्वय और अर्थ एकके अनुसार '**यद्रामायणे**' से कौन रामायण अभिप्रेत है, हमें इसपर विचार करना है। इस श्लोकमें प्रायः पण्डितोंसे यह अर्थ कहते सुना है कि '**यद्रामायणे**' से श्रीमद्गोस्वामीजी इस (अपने) रामायणको सूचित करते और कहते हैं कि हमने इसमें नाना पुराण, वेद, शास्त्रका सम्मत कहा है। पर यदि रामचरितमानसमेंके गोस्वामीजीके इस विषयके वचनपर ध्यान दिया जावे तो यह स्पष्ट देख पड़ेगा कि गोस्वामीजी स्वयं वेद-पुराण-शास्त्रसे चुनकर कोई नवीन रामचरितमानस नहीं कह रहे हैं; बल्कि जो रामचरितमानस श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे वर्णन किया था और जो उनके गुरुमहाराजको श्रीशिवजीसे प्राप्त हुआ, वही रामचरितमानस अपने गुरुमहाराजसे सुना हुआ वे अब भाषाबद्ध करते हैं। यथा—'*संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥*' ...... '*मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।*' (१। ३०) ...... '*तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥*' '*भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरें मन प्रबोध जेहि होई॥*' (१। ३१) '*रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥*' ......'*रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥*'...... '*करौं कथा सोइ सुखद सुहाई।*' (१। ३५) जिसमें अनेकों पुराणों, वेदशास्त्रोंका निचोड़ भी आ गया है। उसीको वे (कवि) रामायण (**यद्रामायणे**) कहते हैं। श्रीपार्वतीजीकी प्रार्थना शिवजीसे है कि '*बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि॥*' (१। १०९) ग्रन्थके अन्तमें कवि कहते हैं, '**यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्। मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्**'॥ (उ०) अर्थात् जो श्रीरघुनाथजीके नामसे युक्त रामायण पहिले श्रेष्ठ कवि स्वामी श्रीशिवजीने दुर्गम रची थी उस मानसको अपने अन्तःकरणके अन्धकारको दूर करनेके लिये भाषाबद्ध किया।

उपर्युक्त उपक्रम, अभ्यास और उपसंहारके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो गया कि गोस्वामीजीका '**यद्रामायणे**' से उसी उमामहेश्वरसंवादमय रामचरितमानसका तात्पर्य है। तुलसीपत्र 'श्रीरामचरितमानसकी आविर्भावना' शीर्षक निम्न लेख भी हमारे मतका पोषक है।

'कोई भी आप्त पुरुष अपने एक प्रवाहमें दो प्रकारकी बातें नहीं कहेगा, फिर भला गोस्वामीजी कैसे कहेंगे? यदि उन्होंने इसको अन्य ग्रन्थोंमें संग्रह किया है तो इन बातोंको उसी मानसमें उन्होंने क्यों

स्थान दिया? पुनः कहा है कि *'जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई॥' 'कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी।'* (१। ३३) इत्यादि। यह कथा 'अलौकिक' है। यदि प्राचीन विख्यात ग्रन्थोंके संग्रहका भण्डार ही मानसका रूप है तो फिर यहाँ उसको 'अलौकिक' क्यों कहते? अस्तु। इसको अन्य शास्त्रोंका संग्रह कहना भूल है। इसको भगवान् शङ्करजीने रचा है और श्रीतुलसीदासजीके द्वारा जगत्में इसका प्रचार हुआ है। जैसे गीताज्ञान प्रथमहीसे संसारमें प्रचलित था परन्तु उसका जीर्णोद्धार स्वयं भगवान्ने अर्जुनके प्रति किया और कल्पके आदिमें जैसे अन्तरहित वेदों और शास्त्रोंको महर्षियोंने तपद्वारा ग्रहण किया था, ठीक उसी प्रकार भगवान् शङ्करजीकी कृपारूपी तपस्याद्वारा श्रीगोस्वामीजीने इसे अनुभव कर पाया, इसको उन्होंने यहाँ स्पष्ट कहा है। मानसकारकी प्रतिज्ञाओंसे निर्भ्रान्त सिद्ध है कि यह रामायण उन्होंने संग्रहद्वारा नहीं बनायी।

'जिस रामायणका गोस्वामीजी उल्लेख करते हैं वह अवश्य ही उमामहेश्वरसंवादात्मक होगी। ऐसी कुछ अंशोंमें अध्यात्मरामायण है। पर इसमें स्पष्ट ही सिद्धान्तविरोध है। महारामायणके बारेमें भी सुननेमें आता है कि वह भी बहुत कुछ वैसी ही है। पर वह सर्वथा उपलब्ध नहीं है। अतः निश्चयरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। हमारी टूटी-फूटी समझमें तो यह मानसचरित हृदयमें (सीना ब सीना) चला आया, लेखबद्ध कभी नहीं हुआ था और न सबको मालूम था। इस रूपमें इसका प्रथम आविर्भाव श्रीगोस्वामीजीद्वारा इस जगत्में हुआ, जैसे मनु-शतरूपाद्वारा श्रीसाकेतविहारी परात्परतर प्रभु श्रीसीतारामजीका आविर्भाव हुआ था।' (तु० प०)

सारांश यह कि गोस्वामीजी शङ्कररचित मानसरामायण ही लिखनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं जिसमें पुराणों और श्रुतियोंका सारसिद्धान्त है, इसके अतिरिक्त संतोंसे सुना हुआ एवं निजानुभव किया हुआ भी कुछ कहेंगे, यह भी नाना पुराणनिगमागमसम्मत ही है। बालकाण्डके प्रथम ४३ दोहे 'शङ्कररचितमानस' के बाहरके हैं। 'स्वान्तःसुखाय' लिखा और उन्हें सुख हुआ भी, यह बात ग्रन्थकी समाप्तिमें स्वयं उन्होंने कही है। *'पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥'* मा० मा० कार यह प्रश्न उठाकर कि 'नाना पुराणादि, रामायणादि तथा रहस्यादिके अवलोकनसे उनको सुख नहीं हुआ? क्या भाषाकाव्य रचनेसे ही सुख होगा?' उसका उत्तर देते हैं कि कलिग्रसित लोगोंको परम दुःखी देखकर उन्हें महादुःख है, उस दुःखके निवारणार्थ शङ्करजीने उन्हें भाषाकाव्य रचनेकी आज्ञा दी 'जिससे सबका कल्याण होगा'। यथा—*'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥'* लोगोंका कल्याण होनेसे कविके अन्तःकरणमें भी सुख होगा।

८ **'क्वचिदन्यतोऽपि'** इति। जब रामचरितमानसमें नाना पुराणनिगमागमसम्मत सब आ गये तब फिर और रह ही क्या गया जो **'क्वचिदन्यतः अपि'** से सूचित करते हैं? उत्तर—(क) अन्वय और अर्थ (१) के अनुसार। *'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'* (३। ३९), *'औरो एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥'* (१। १९६) श्रीकाकभुशुण्डिगरुड-संवाद कैसे हुआ? भुशुण्डीजीने काकतन क्यों पाया? इत्यादि। श्रीपार्वतीजीके प्रश्न और उत्तर एवं भुशुण्डीगरुड़-संवाद इत्यादि। जो श्रीरामचरितमानसकी समाप्तिपर उत्तरकाण्डमें दोहा ५३ (८) *'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुशुंडि गरुड़ प्रति गाई॥'* से प्रारम्भ होते हैं, इत्यादि, श्रीशिवरचितमानसमें **'क्वचिदन्यतोऽपि'** हैं। (ख) अन्वय और अर्थ २, ३, ५ के अनुसार यह शब्द गोस्वामीजी अपने लिये कहते हैं। इसके अनुसार बालकाण्डके आदिके ४३ दोहेतक जो अपनी दीनता, चार संवादोंका संविधान, अपना मत (यथा—*'मोरें मत बड़ नाम दुहूँ तें'*) आदि कहे हैं, वह उनका निजका है। फिर 'सतीमोह और तनत्याग', 'श्रीपार्वती तथा श्रीशिवचरित' यह शिवपुराण, कुमारसम्भव, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण आदिसे लिया है। बीच-बीचमें चरित्रोंपर जो याज्ञवल्क्यजी अथवा ग्रन्थकारने स्वयं टीका-टिप्पणी की है, जैसे कि *'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान॥'* (१। १२७), *'जल पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलगु होइ रसु जाइ कपटु खटाई परत पुनि॥'* (१। ५७),

'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥' (२। २४) और इसी तरह श्रीभुशुण्डिजीके टिप्पण जो बीच-बीचमें हैं वे। यथा—*'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना॥'* (३। २), *'गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही।* ·····' (५। ५) इत्यादि। पुनः, अपने मनके उपदेशके व्याजसे लोकको जो ठौर-ठौर शिक्षा दी गयी है इत्यादि, सब बातें जो उमाशंभुसंवादके बाहरकी हैं, **'क्वचिदन्यतोऽपि'** में आ सकती हैं। बड़े-बड़े जो अनेक रूपक, लोकोक्तियाँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि हैं वह भी कविके ही हो सकते हैं। (ग) पं० रामकुमारजीका मत है कि उपपुराण, वेदके छः अङ्ग, नाटक (श्रीहनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव), रघुवंश, कुमारसम्भव, उत्तररामचरित, इतिहास, संहिताएँ, पाञ्चरात्र आदि जितने छोटे-बड़े ग्रन्थ हैं, वे सब **'क्वचिदन्यतोऽपि'** में समा जाते हैं। पंजाबीजी कहते हैं कि वेद, पुराण और रुद्रयामल, ब्रह्मयामलादि तन्त्रमें सब कुछ है, अतः श्लोकका आशय यह है कि नाना पुराणनिगमागमसम्मत जो रामायण वाल्मीकिजीने बनाया है उसमें उन निगमागमोंके बहुतेरे आशय वाल्मीकिजीने नहीं लिखे और वह प्रसङ्ग मेरे मनको अच्छे लगे वह जो मैंने दिये हैं वह **'क्वचिदन्यतोऽपि'** है। जैसे कि 'भानुप्रताप' वाला प्रसङ्ग। पाँड़ेजीका मत है कि *'निज अनुभव'* ही **'क्वचिदन्यतः'** है। यथा—*'प्रौढ़ सुजन जन जानहिं जनकी। कहहुँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥', 'आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी॥'* (१। २३, १। ४३) वे० भू० पं० रा० कु० दासजीका मत है कि गोस्वामीजीने अर्थपञ्चकका ज्ञान कहीं सूक्ष्मरूपसे और कहीं विस्तारसे जो दिया है वह **'क्वचिदन्यतोऽपि'** है। तापसप्रसङ्ग भी उसीमें आता है।

९ **'स्वान्तःसुखाय** ·····' इति। यहाँ **'स्वान्तःसुखाय'** कहा और ग्रन्थके अन्त (उपसंहार) में **'स्वान्तस्तमः** शान्तये' कहा है। दोनों बातें एक ही हैं; क्योंकि जब अन्तःकरणका मोहरूपी तम दूर होता है तभी **'शान्ति'** या **'सुख'** मिलता है। **'स्वान्तःसुखाय'** की कामना जो आदिमें की गयी, उसकी सिद्धि अन्तमें दिखायी है; यथा, *'जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहू। पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥'* (७। १३०)

१० **'तुलसी'** इति। ग्रन्थकारने अपना नाम यहाँ लिखा है। पर स्मृतिमें अपना, अपने गुरुका, कृपणका, जेठे पुत्र और धर्मपत्नीका नाम लेना निषेध है। यथा—**'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्य कलत्रयोः॥'** यह शङ्का उठाकर बाबा स्वरूपदासजीने यह समाधान लिखा है कि जन्मसे बारहवें दिन जो नाम पिता पुत्रका रखता है, उस नामके लेनेका निषेध है, अन्य नामोंका नहीं। **'तुलसीदास'** नाम पिताका रखा नहीं किंतु गुरुदत्त नाम है, अतः यह नाम लेना दोष नहीं है। इसी दोषके निवारणार्थ महाभाष्यकार पतञ्जलिने अपना यह नाम छोड़ दूसरा यौगिकनाम 'गोनर्दीय' लिखा है। अथवा कूपखानकन्यायसे समाधान कर लें। जैसे कुआँ खोदनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है और खोदनेवालेके शरीरमें कीचड़ लग जाती है, वह सब दोष उसीके जलसे मिट जाते हैं। जब अनेक जीव उसके जलको पीकर सुख पायेंगे तब उस पुण्यसे उसके हिंसाके पाप मिट जाते हैं और कीचड़ तो तुरंत उसी जलसे धुल जाता है। इसी तरह यदि नाम लेनेसे पाप हुआ तो वह रामचरितके पठन-पाठनसे जो पुण्य होता है उससे मिट गया। अथवा नामोच्चारण करनेका निषेध है, लिखनेका नहीं। इसीसे अनेक ग्रन्थकार अपना नाम लिखते हैं। इससे दोष नहीं। (शङ्कावली)

११ ☞ प्रथम दो संस्करणोंमें हमने *'रघुनाथगाथा'* और **'भाषानिबन्धम्'** को दो पद मानकर 'तत् **रघुनाथगाथा स्वान्तःसुखाय तुलसीदासः भाषानिबन्धम् आतनोति'** ऐसा भी अन्वय और उसके अनुकूल 'उस रघुनाथजीकी कथाको तुलसीदासजी अपने अन्तःकरणके सुखके लिये भाषारचनामें विस्तार करते हैं' ऐसा अर्थ किया था। परन्तु विचार करनेपर यह ज्ञात हुआ कि यह एक सामासिक पद है। अतः इसके बीचमें दूसरा अन्य शब्द आना उचित नहीं है, अतएव अन्वय 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्धं·····' किया गया। यद्यपि भावार्थ दोनोंका एक ही है पर व्याकरणानुसार अन्वय और अर्थमें त्रुटि देख पड़ती है।

१२ **'अतिमञ्जुलमातनोति'** इति। **'अतिमञ्जुलम्'**, **'रघुनाथगाथाभाषानिबन्धम्'** का विशेषण हो सकता है

और 'आतनोति' का क्रियाविशेषण भी हो सकता है। भाषाकाव्यको '**अतिमञ्जुल**' कहा, क्योंकि एक तो श्रीहनुमान्‌जीकी प्रेरणासे लिखा गया, उनकी कृपासे निबन्ध रचा गया। यथा—'*जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें। तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरें॥*' (१। ३१) उसपर श्रीशिवकृपासे ऐसा बना। यथा—'*भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससिसमाज मिलि मनहु सुराती॥*' (१। १५), '*संभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥*' (१। ३६) श्रीजानकीजीकी कृपासे निर्मल मति मिली। इत्यादि कारणोंसे यह निबन्ध 'अति सुन्दर' हुआ। मानसरूपक, चार सुन्दर संवादरूपी घाटों तथा भाषाके षडङ्गोंसे परिपूर्ण होनेके सम्बन्धसे 'अतिमञ्जुल' है। प्रारम्भमें कहा है, '*सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि। तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥*' (१। ३६) और अन्तमें कहा है कि '*एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना।*' (७। १२९) एवं '*सतपंच चौपाईं मनोहर*' (७। १३०) इस तरह सारा ग्रन्थ आदिसे अन्ततक मनोहर है। यदि '**आतनोति**' का क्रियाविशेषण मानें तो भी हो सकता है। यथा—'*करइ मनोहर मति अनुहारी।*' (१। ३६) काष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि इसमें देश-देशान्तरोंकी सुन्दर-सुन्दर भाषा चुन-चुनके बहुत सुन्दर बनाया है। इसमें मिथिला, ब्रज, भोजपुरी, अवधी, फारसी, अर्बी, बुन्देलखण्डी, उदयपुरी, सरयूपारी आदि प्रान्तोंकी भाषाएँ आयी हैं। जैसे कि 'नेब' मिथिलाकी, 'धुआँ देखि' बुन्देलखण्डकी, 'राउर' (महल) उदयपुर की, 'रउरा' सरयूपारी-की, 'म्हाँको' जयपुरी, 'थाको, थकि, थके' बँगलाकी इत्यादि।

१३ '**भाषानिबन्धम्**' इति। श्रीमद्‌गोस्वामीजी श्रीशिवरचित मानसरामायणको भाषामें करनेको कहते हैं तो फिर उन्होंने मङ्गलाचरण यहाँ और प्रत्येक सोपानके आदिमें संस्कृतमें क्यों किया? यह शङ्का उठाकर उसका समाधान लोगोंने यों किया है कि (१)संस्कृत देववाणी है इसलिये माङ्गलिक और परम पवित्र है। अतः मङ्गलाचरणके लिये उसको उपयुक्त समझा और उसका सम्मान किया। पुनः, (२) सम्भव था कि लोग संदेह करते कि वेद-पुराणका सम्मत इसमें होना लिखते हैं पर वे संस्कृत तो जानते ही न थे, वेद-पुराणका सम्मत वे क्या जानें? यदि संस्कृत जानते होते तो उसी भाषामें रचना करते, इस सन्देहके निवारणार्थ। (३) दोनों भाषाओंमेंसे जनताको अधिक स्वाद किसमें मिलता है, यह दोनोंके एकत्र होनेहीपर जाना जा सकेगा इस विचारसे संस्कृतमें मङ्गल किया। अथवा (४) देववाणी प्रभावोत्पादक होती है, अतएव ग्रन्थारम्भमें रचनाका यह नियम सदासे प्रचलित है कि व्याख्यानदाता, कथावाचक जनताके कल्याणार्थ भाषाहीमें उपदेश करते हैं परन्तु उपदेशके पूर्व देववाणीमें भगवान्, गुरु तथा देवताओंके दो-चार मङ्गलाचरण कर लेते हैं। (मा० मा०)

वेणीमाधवजीकृत मूलगुसाईं चरितसे स्पष्ट है कि काशीमें प्रह्लादघाटपर उन्होंने संस्कृतमें मानसका वर्णन प्रारम्भ किया। परंतु दिनमें जो वह रचते रातमें वह लुप्त हो जाता था। सात दिनतक यह लोपक्रिया जारी रही। पूज्यकवि बड़े चिन्तित रहते थे कि क्या करें। आठवीं रातको स्वप्नमें शिवजीने आज्ञा दी कि अपनी मातृभाषामें काव्यकी रचना करो और फिर जागनेपर शक्तिसहित प्रकट भी हुए और '***शिव भाषेउ भाषामें काव्य रचो। सुरबानि के पीछे न तात पचो॥ सबकर हित होइ सोई करिये। अरु पूर्व प्रथा मत आचरिये॥ तुम जाइ अवधपुर बास करो। तहँई निज काव्य प्रकाश करो॥ मम पुण्य प्रसाद सों काव्यकला। होइहैं सम साम ऋचा सफला॥*** सो०—***कहि अस संभु भवानि अन्तर्धान भये तुरत। आपन भाग्य बखानि चले गोसाईं अवधपुर॥***' (१०)

इस विषयपर तुलसीपत्रमें यह आख्यायिका निकली थी कि गोस्वामीजीने चैत्र शु० ७ रविवारको ६ श्लोक रचे और सिरहाने रखकर सो गये। एक वृद्ध ब्राह्मण उसे आकर ले गया। इससे दुःखी हो आप अनशन व्रत करने लगे। अष्टमीकी रातको उसी वृद्ध ब्राह्मणरूपधारी भगवान् शिवने आकर इनसे कहा कि 'यदि तुम संस्कृतमें ही फिर रामायण बनाओगे तो कोई उपकार न होगा। क्योंकि इस समय यवनोंके अत्याचारसे संस्कृत अप्रचलित हो गयी है। अतः संस्कृतमें 'रामायणकी' रचना भूखे मर्कटको मोती देनेके समान है। तुम उसी मानस रामायणको भाषाबद्ध करो जिसका प्रचार करनेके लिये संसारमें

तुम्हारा अवतार हुआ है।' श्रीमद्गोस्वामीजी इसपर बोले कि 'प्रथम तो उस शिवमानसविहारी मानसके प्रबन्धका मुझे क्योंकर अनुभव होगा? दूसरे भाषामें होनेसे पण्डित लोग उसका आदर न करेंगे।'

भगवान् (शिव) बोले 'हे रामानन्यवर! तुम्हारे उस भाषानिबन्धकी महिमा किसी अलौकिक ग्रन्थसे कम न होगी, किंतु उसका प्रचार दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा। रहा मानसकी कथाको विशेषरूपसे जानना, सो उसका अनुभव मैं तुम्हें स्वयं करा दूँगा।' गोस्वामीजीने पूछा, 'आप कौन हैं और वह मानस आपको कैसे मिला?' इसपर शिवजीने अपना परिचय दिया और साक्षात् होकर श्रीगोस्वामीजीकी पाद्यार्घ्य-पूजा ग्रहण कर उनको आश्वासन दे अन्तर्धान हो गये। इस आख्यायिकाका प्रमाण बा० १५ में मिलता है। यथा—'*सपनेहु साँचेहु मोहि पर जौं हरगौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥*' नवमीके प्रातःकाल फिर श्रीहनुमान्‌जीका स्मरण कर उन्होंने उनसे उसी दिन मानसके रचनेकी सम्मति ली। आज्ञा पाकर उसी दिन कर्क लग्नमें मानसका आरम्भ कर अपने पूर्वरचित श्लोकोंमें नीचे इस (सातवें) श्लोककी रचनाकर भाषा-अनुबन्ध करने लगे। (तुलसीपत्र १९७२) बाबा श्रीजानकीदासजीकृत मानसपरिचारिकामें लगभग यही आख्यायिका है। अन्तर इतनामात्र है कि आप महात्माओंसे ऐसा सुनना कहते हैं कि श्रीगोस्वामीजीने प्रथम श्रीअयोध्याजीमें मानसरामायण जैसा गुरुमहाराजसे सुना था संस्कृतमें लिखा, फिर आपको यह करुणा हुई कि संस्कृत सबको हितकर न होगी, भाषामें हो तो सबका हित होगा। ऐसा विचारकर काशीमें शिवजीकी सम्मति लेने गये। शिवजी दण्डीका रूप धारणकर वह संस्कृत रामायण माँग ले गये। फिर न लौटाया। अनशन व्रत करनेपर अपना परिचय देकर शिवजीने भाषामें करनेकी आज्ञा दी।

१४ ग्रन्थके आदिमें सात श्लोक देनेके अनेक भाव कहे जाते हैं। एक तो यही कि सात श्लोक ही लिखे थे जब शिवजीने उनको लुप्त कर दिया था। इसीसे उतने श्लोक ज्यों-के-त्यों बने रहे। आगे भाषामें मङ्गलाचरण प्रारम्भ किया गया। दूसरे, इन श्लोकोंमें सूक्ष्मरीतिसे इस ग्रन्थका विषय और प्रयोजन आदि बताया है। तीसरे, सात संख्यासे सूचित किया कि इस ग्रन्थमें सप्त सोपान (वा काण्ड) हैं। यथा—'*एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना।*' (७। १२९) प्रत्येक सोपानके लिये क्रमसे एक-एक मङ्गलाचरणका श्लोक आदिमें भी दे दिया है। चौथे, सातकी संख्या विषम अतएव माङ्गलिक है और सृष्टिमें अधिक प्रचलित है। जैसे कि दिन सात हैं, प्रधान सागर भी सात हैं। इसी तरह सप्त द्वीप, सप्त ऋषि इत्यादि हैं। पाँचवें रामायणी श्रीरामबालकदासजी लिखते हैं कि (क) सात श्लोक देकर जनाया कि कलिके कुटिल जीवोंको पार करनेके लिये हम इसमें सप्तसोपानरूपी सप्त जहाज बनावेंगे। यथा—'*सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को॥*' (मूलगुसाईं चरित) मानससरमें सात सीढ़ियाँ हैं। यथा— '*सप्त प्रबन्ध सुभग सोपाना। ग्याननयन निरखत मन माना॥*' (१। ३७) (ख) दिन सात हैं, अतः सात श्लोक देकर जनाया कि सातों दिन अर्थात् निरन्तर इस ग्रन्थका पठन-पाठन वा श्रवण करना चाहिये। यथा—'*तजि आस सकल भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना*'। (५। ६०) ऐसा करनेसे श्रीरामभक्ति प्राप्त होगी। यथा—'*मुनि दुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास। जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥*' (७। १२६) (ग) मोक्षदायक पुरियाँ भी सात ही हैं, अतः सात श्लोक देकर जनाया कि ये सातों काण्ड जीवोंको मुक्ति देनेके लिये सप्तपुरियोंके समान हैं। इसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही पुरीका निवास है। '*रघुपतिभगति केर पंथाना।*' (७। १२९)

१५ यह श्लोक 'वसन्ततिलकावृत्त' छन्दमें है। इस वृत्तके चारों चरण चौदह-चौदह अक्षरके होते हैं। इसके प्रत्येक चरणका स्वरूप यह है। तगण (अन्तलघु), भगण (आदिगुरु), जगण (मध्यगुरु), जगण अंतके दोनों वर्ण गुरु। श्रुतबोधमें इसके लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं—'**आद्यं द्वितीयमपि चेद्गुरु तच्चतुर्थं यत्राष्टमञ्च दशमान्त्यमुपान्त्यमन्त्यम्। कामाङ्कुशाङ्कुशितकामिमतङ्गजेन्द्रे कान्ते वसन्ततिलकां किल तां**

वदन्ति॥'(३७) अर्थात् पहला, दूसरा, चौथा, आठवाँ, दसवाँ और अन्तके दोनों वर्ण गुरु होते हैं। श्रीरामचरितमानसमें यह वृत्त दो ही काण्डोंमें और वह भी एक-ही-एक आया है। एक यहाँ और दूसरा सुन्दरकाण्डमें।

ग्रन्थ-अनुबन्ध-चतुष्टय

मङ्गल, प्रतिज्ञा और अनुबन्ध-चतुष्टय इन तीनोंका प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें होना आवश्यक है। मङ्गलके सम्बन्धमें प्रथम श्लोकमें पूरा विषय लिखा जा चुका है। ग्रन्थकार रचनेकी जो प्रतिज्ञा करता है जिसमें साथ-ही-साथ भरसक अपना और ग्रन्थका नाम भी देता है, उसीको हमने 'प्रतिज्ञा' नाम दिया है। '**अनुबन्ध**' का अर्थ होता है '**अनु बध्नाति (लोकान्)**' अर्थात् जो लोगों (श्रोताओं) को बाँध लेता है। तात्पर्य कि जिसको जाननेपर ग्रन्थमें श्रोताओंको रुचि (प्रवृत्ति) होती है। अनुबन्ध चार हैं। विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी। विषय अर्थात् ग्रन्थमें जिसका प्रतिपादन किया गया है। प्रयोजन दो प्रकारका होता है, एक तो ग्रन्थका, दूसरा विषयका। ग्रन्थका प्रयोजन विषयप्रतिपादन करना है और विषयसे क्या लाभ होगा? यह विषयका प्रयोजन है। सम्बन्ध तीन प्रकारका है। प्रयोजन और ग्रन्थका, विषय और ग्रन्थका और प्रयोजन और विषयका। ग्रन्थ और प्रयोजनका सम्बन्ध यह है कि ग्रन्थ प्रतिपादक है और प्रतिपादन प्रयोजन है। ग्रन्थ और विषयका सम्बन्ध यह है कि ग्रन्थ प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है। प्रयोजन और विषयका सम्बन्ध यह है कि प्रयोजन साध्य है और विषय साधक है। विषय, प्रयोजन और ग्रन्थको चाहनेवाला, ग्रन्थके अध्ययनके अनुकूल बुद्धि आदि आवश्यक गुणोंसे युक्त तथा शास्त्रद्वारा अनिषिद्धको 'अधिकारी' कहा जा सकता है।

इनमेंसे प्रतिज्ञा तो ग्रन्थकार ही स्पष्ट शब्दोंसे ग्रन्थारम्भमें प्रायः कर दिया करता है। परन्तु अनुबन्धचतुष्टय केवल सूचितमात्र करनेकी प्रणाली चली आयी है, जिसको टीकाकार अथवा अध्यापक प्रकट करते हैं। इनके विषयमें कोई आर्षप्रमाण बहुत खोज करनेपर भी नहीं मिला। केवल प्रयोजन और सम्बन्धके विषयमें कुमारिलभट्टकृत '**अथातो धर्मजिज्ञासा**' के शाबरभाष्यपर 'श्लोक-वार्तिक' में कुछ उल्लेख मिलता है। यथा—'**सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते॥**' '**सिद्धिः श्रोतृप्रवृत्तीनां सम्बन्धकथनाद्यतः। तस्मात्सर्वेषु शास्त्रेषु सम्बन्धः पूर्वमुच्यते॥**'(१२, १९) अर्थात् 'जबतक किसी शास्त्र अथवा कर्मका प्रयोजन नहीं कहा जाता तबतक उसको कौन ग्रहण करेगा?। श्रोताओंके प्रवृत्तिकी सिद्धि प्रायः सम्बन्धकथनसे होती है। अतः सब शास्त्रोंमें प्रथम सम्बन्ध कहा जाता है।'(१९)

शेष बातोंका प्रमाण न मिलनेपर भी उनका फल प्रसिद्ध होनेसे ग्रन्थकर्ता इन सबोंका उल्लेख करते आये हैं। जिससे ग्रन्थके आरम्भमें ही ग्रन्थका सामान्य परिचय हो जाता है और मनुष्य उसके अध्ययनमें प्रवृत्त हो जाता है।

इन्हीं बातोंको लक्ष्य करके पण्डितलोग कहा करते हैं, '**अधिकारी च विषयः सम्बन्धश्च प्रयोजनम्। ग्रन्थादावश्यकर्त्तव्या कर्त्राश्रोतृप्रवृत्तये॥**' प्रायः ग्रन्थारम्भके मङ्गलाचरणके साथ ही उपर्युक्त बातोंका उल्लेख किया जाता है। यथा—'**सम्बन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्। विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते॥**'

श्रीरामचरितमानसके प्रारम्भिक छः श्लोक वन्दनात्मक मङ्गलाचरण हैं। अब इस अन्तिम श्लोकमें प्रतिज्ञा करते हैं और साथ-ही-साथ अनुबन्ध-चतुष्टय भी सूचित करते हैं।

(१) '**रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति**' यह प्रतिज्ञा है। ग्रन्थकर्त्ताका नाम 'तुलसी' तो स्पष्ट ही है। '**यद्रामायणे निगदितम्**' से सामान्यतः ग्रन्थका नाम 'रामायण' है, यह सूचित किया। ठीक-ठीक नाम आगे भाषाकी चौपाइयोंमें कहेंगे। यथा—'***रामचरितमानस एहि नामा।***' (१। ३५, ७) (२) '***रघुनाथगाथा***' विषय है। यथा—'***बरनौं रामचरित भव मोचन।***' (१। २), '***करन चहौं रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥***' (१। ८), '***तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥***' (१। १३) इत्यादि। (३) श्रीरामचरितका प्रतिपादन करना यह 'ग्रन्थका प्रयोजन' है और '**स्वान्तःसुखाय**' यह श्रीरघुनाथगाथारूपी

'विषयका प्रयोजन' है। ग्रन्थमें अन्ततक जो-जो इस ग्रन्थकी फलश्रुतियाँ कही गयी हैं वे सब साक्षात् विषयके और परम्परासे ग्रन्थके प्रयोजन हैं। यथा—'*जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥*' (१। १५। १०-११) '*सुनत नसाहिं काममदर्दंभा।*'''*सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा॥*' (१। ३५। ६-७) '*रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥*' से '*ते गोपद इव भवनिधि तरहीं।*' (७। १२९) इत्यादि। ये सब इस श्लोकमें सूक्ष्मरूपसे '**स्वान्तःसुखाय**' पदसे सूचित कर दिये गये हैं। (४) प्रतिपादक प्रतिपाद्य, साधक साध्य इत्यादि उपर्युक्त व्याख्यामें कथित सम्बन्ध 'सम्बन्ध' है। (५) भाषामें और विशेषकर श्रीरामचरितमानसकी श्रीरघुनाथगाथा तथा स्वान्तःसुखका चाहनेवाला 'अधिकारी' है। ऐसे अधिकारियोंके लक्षण विस्तारसे ग्रन्थमें प्रथम और सप्तम सोपान (बाल और उत्तरकाण्ड) में आये हैं। यथा, '*सदा सुनहिं सादर नर नारी। ते सुर बर मानस अधिकारी॥*' (१। ३८), '*रामकथा के ते अधिकारी।*' से '*जाहि प्रान प्रिय श्रीरघुराई।*' (७। १२८) तक। इत्यादि सब इस श्लोकमें '**स्वान्तःसुखाय**', '**रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति**' इन शब्दोंसे सूक्ष्म रीतिसे जनाया है। ऊपर अधिकारीके लक्षणोंमें 'शास्त्रसे अनिषिद्ध' भी एक लक्षण बताया गया है। मानसके सप्तम सोपानके दोहा १२८ में '*यह न कहिअ सठही हठसीलहि*'''*।*' इत्यादि लक्षण जो अनधिकारीके बताये गये हैं, उनसे रहित होना 'शास्त्रसे अनिषिद्ध' से अभिप्रेत है।

भाषा मङ्गलाचरण सोरठा

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करि-बर-बदन।
करौ अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ-गुन-सदन॥ १॥

शब्दार्थ—जो=जिसे, जिसको। यथा—'*जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदासु।*' (१। २६), '*जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महा मुनिधीर।*' (१। २७३), '*सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान।*' (१। १४), '*जो अवलोकत लोकपति लोकसंपदा थोरि।*' (१। ३३२), '*जो अवलोकि मोर मनु छोभा।*' (२। १४) इत्यादि। **सुमिरत**=स्मरणमात्रसे, स्मरण करते ही। सिधि=सिद्धि, कामनाकी पूर्ति वा प्राप्ति। **गन नायक**=गणोंके स्वामी, गणेशजी। करि=हाथी। बर=श्रेष्ठ, सुन्दर। बदन (वदन)=मुख। **बुद्धिरासि**=बुद्धिके भण्डार। **राशि**=ढेर, भण्डार। **बुद्धि**=अन्तःकरणकी चार वृत्तियोंमेंसे दूसरी वृत्ति। वाल्मीकीयमें अङ्गदजीके विषयमें कहा गया है कि उनमें बुद्धिके आठों अङ्ग हैं। यथा—'**बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम्। चतुर्दशगुणं मेने हनुमान् वालिनः सुतम्॥**' (४। ५४। २) वे आठ अंग ये हैं। शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह, अर्थ, विज्ञान और तत्त्वज्ञान। **सुभ गुन सदन**=कल्याणकारी गुणोंके घर। गुण चौदह हैं। '**चतुर्दश गुणम्**'—देशकालका ज्ञान, दृढ़ता, कष्टसहिष्णुता, सब विज्ञानता, दक्षता, उत्साह, मन्त्रगुप्ति, एकवाक्यता, शूरता, भक्तिज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षित्व और अचापल। (चन्द्रशेखरशास्त्री वाल्मी० टीका) (भा० ४। ३। १७) में 'विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल'—ये छः गुण सत्पुरुषोंके कहे गये हैं। यथा—'**विद्या तपो वित्तवपुर्वयः कुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।**' बुद्धिके भी दो रूप कहे गये हैं। एक वासनात्मिका, दूसरी व्यवसायात्मिका। पहलीसे बाहरी वस्तुका ज्ञान होता है और दूसरीसे हम ज्ञान होनेके उपरान्त निर्णय करते हैं।

अर्थ—जिनके स्मरणमात्रसे सिद्धि प्राप्त होती है, जो गणोंके स्वामी हैं (गणेश जिनका नाम है) और सुन्दर हाथीके समान श्रेष्ठ मुखवाले हैं, वे बुद्धिकी राशि और शुभगुणोंके धाम (मुझपर) कृपा करें॥ १॥

नोट—१ इस सोरठेके अर्थ कई प्रकारसे लोगोंने किये हैं। कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

अर्थ—२ हे **गणनायक**! हे करिवर-बदन! हे **बुद्धिराशि**! हे शुभगुणसदन! जिसे स्मरण करनेसे सिद्धि होती है वह मुझे कृपा कीजिये।

इसमें वस्तुका नाम नहीं दिया, क्योंकि गणेशजी इसे भली प्रकार जानते हैं। यथा, *'महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥'* (१। १९) दूसरे, लोक-वेदमें प्रसिद्ध है कि श्रीरामनामसे ही काशीजीमें शंकरजी सबको मुक्ति देते हैं। तत्कालसिद्धि देनेवाला इसके समान दूसरा नहीं है। अतः ग्रन्थकारने इशारामात्र कर दिया। गोस्वामीजी व्यंगसे रामनाम माँगते हैं।

अर्थ—३ गणनायक, गजसमान श्रेष्ठ मुखवाले गणेशजी, जिसके नामके स्मरण करनेसे सिद्ध होते हैं (अर्थात् प्रथम पूजे जाते हैं), वे सद्गुणसदन बुद्धिराशि (श्रीरघुनाथजी) मुझपर दया करें। (सु० द्विवेदीजी)

'गोस्वामीजी श्रीरामजीके अनन्य भक्त हैं, इससे और *'होइ'* शब्दसे भी यह आशय विदित होता है कि यह सोरठा गणेशजीके लिये नहीं है। यह तो श्रीरघुनाथजीसे प्रार्थना है कि मुझपर कृपा कीजिये। श्रीरामजी परब्रह्म हैं, जिसे सांख्यशास्त्रमें 'अव्यक्त' नामसे कहा है। यह अव्यक्त ही बुद्धिका उत्पादक है। इसलिये *'बुद्धिराशि'* कहा। *'बुद्धि'* शब्दसे शक्तिसहित श्रीरामजीकी प्रार्थना की गयी।' (सु० द्विवेदीजी) इसमें आपत्ति यह पड़ती है कि *'सिधि'* का अर्थ 'सिद्ध' कैसे होगा? पर उन्होंने पाठ *'सिध होइ'* रखा है, उसके अनुसार अर्थ ठीक है। हमको 'सिध' पाठ कहीं मिला नहीं। *'सिधि होइ'* पाठसे ऐसा अर्थ कर सकेंगे कि *'गन नायक'*""को (मनोरथकी) सिद्धि होती है वे""।'

अर्थ—४ जिन (श्रीरामजी) के स्मरणमात्रसे सिद्धि होती है, जो (श्रीब्रह्मादि) गणोंके स्वामी हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ (अर्थात्) बड़ा मुख किया (कि जिसमें भुशुण्डिजीने प्रवेशकर अनन्त ब्रह्माण्ड देखे) वे बुद्धिराशि और शुभगुणसदन मुझपर अनुग्रह करें।

'करिबर बदन' का अर्थ 'जो प्राणियोंके मुखोंको उज्ज्वल करनेवाले अर्थात् प्राणियोंको यश देनेवाले' ऐसा विनायकी टीकाने किया है। शेष सब यही है।

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि इस ग्रन्थमें विष्णुभगवान्, क्षीराब्धिनिवासी भगवान् और श्रीसाकेतबिहारीजीके अवतारोंकी कथाएँ हैं। इसीसे प्रथम सोरठेमें गुप्तरूपसे श्रीसाकेतबिहारीजीका, दूसरेमें विष्णुका और तीसरेमें क्षीराब्धिवासीजीका वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया।

भाषाका मङ्गलाचरण

मं० श्लोक ७ में **'रघुनाथगाथाभाषानिबन्ध'** रचनेकी जो प्रतिज्ञा की थी उसीके अनुसार अब भाषाके मङ्गलाचरणसे प्रारम्भ करते हैं। भाषाका सब मङ्गलाचरण सोरठामें क्यों किया? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने दिया है। यद्यपि कोई भी छन्द होता उसीमें ऐसा प्रश्न उठ सकता है, इसलिये शङ्काकी बात नहीं है, तथापि 'सोरठा' के प्रयोगके भाव ये हो सकते हैं—

(१) इस ग्रन्थकी दिनोंदिन उन्नति हो, दिनोंदिन इसका प्रचार बढ़ता ही जाय और इसका पठन-पाठन, वक्ता और श्रोता दोनोंके लिये कल्याणकारक हो, इस विचारसे सोरठामें मङ्गलाचरण किया गया। सोरठा छन्दके पहले और तीसरे चरणमें ११-११ मात्राएँ होती हैं और दूसरे और चौथेमें १३-१३ अर्थात् सोरठेमें वृद्धिक्रम है। यह बात दोहा, चौपाई या छन्दमें नहीं पायी जाती। दोहेमें ह्रासक्रम है। उसमें पहले चरणमें १३ मात्राएँ हैं और दूसरेमें ११, अर्थात् उच्च पदसे नीचेको गिरना होता है। और चौपाई और छन्दमें समान चरण होते हैं। वृद्धिक्रम इसीमें मिला, अतः अपनी अभिलाषाकी पूर्ति विचारकर इसीसे मङ्गलाचरण प्रारम्भ किया।

(२) 'सोरठा' में इष्टदेव श्रीसीतारामजीके नामोंके प्रथम अक्षर मिले।

(३) श्रीमहात्मा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि 'सोरठा' छन्द मेघरागके अन्तर्गत है, जो वर्षा-ऋतु श्रावण, भादोंमें गाया जाता है और ग्रन्थकारने आगे कहा भी है कि *'बरषारितु रघुपतिभगति तुलसी सालि सुदास। रामनाम बर बरन जुग सावन भादों मास॥'* अतः मङ्गलमयीरामभक्तिपरिचायक 'सोरठा' का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त हुआ है।

(४) कीना योगीजीके मतानुयायी कहते हैं कि आचार्यने सोरठा छन्दका प्रयोग इसलिये किया है कि इसमें ११, १३ की विधि लगी है और उसके अनुसार तान्त्रिकलोग सुगमतापूर्वक अपने लौकिक एवं पारलौकिक अनुष्ठानोंमें उसका प्रयोग कर सकते हैं।

(५) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि सोरठा 'भोर' (प्रातःकाल) का सूचक है, कहने-सुननेवालोंकी अविद्या-रात्रिका नाशक होकर यह ग्रन्थ उनमें विज्ञानरूपी सबेरेका उदय करायेगा।

नोट—३ यहाँ शङ्का की जाती है कि 'जकार' दग्धाक्षर है। इससे प्रारम्भ होनेसे मङ्गल कैसे हो सकता है? पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ दग्धाक्षर भूषणयुक्त है, अतः दोष नहीं। यहाँ मात्रा 'ज' का भूषण है। केवल 'ज' न चाहिये। [*'मङ्गल सुरवाचक शब्द गुरु होवे पुनि आदि। दग्धाक्षर को दोष नहिं अरु गण दोषहु बादि॥'* छन्दप्रभाकरके इस प्रमाणानुसार दग्धाक्षरका दोष यहाँ नहीं लग सकता, क्योंकि एक तो यह मङ्गल है, दूसरे यहाँ आदि वर्ण गुरु है। छन्दप्रभाकरके अनुसार 'ज' दग्धाक्षर नहीं है।] फिर यहाँ मित्रगण पड़े हैं जो सिद्धिदाता हैं और इसमें सिद्धिदाताकी ही वन्दना है। [ग्रन्थकारने प्रथम सर्वनाम 'जो' के प्रयोगसे प्रियदेवकी प्रसिद्धि सूचित की। **'सर्वनाम प्रसिद्धार्थमिति।'** (सू० प्र० मिश्रजी)]

नोट—४ *'जो सुमिरत'* इति। मानसपीयूषके प्रथम संस्करणमें **'जेहि'** और 'जो' दोनों पाठ दिये गये थे और उन पाठोंपर विचार भी किया गया था। वह विचार विशेषतः नागरीप्रचारिणी सभाके प्रथम संस्करणके आधारपर किया गया था। क्योंकि उसमें कोई पाठान्तर इस स्थानपर नहीं दिया गया है और सम्पादक मानसपीयूषने प्रायः उसीका पाठ रखना उचित समझा था। अब कतिपय प्राचीन लिपियोंको स्वयं देखा है। इसीसे वालकाण्डकी प्रथम जिल्दके दूसरे संस्करणमें 'जो' पाठ रखा और वही इस तीसरे संस्करणमें रखा है। १६६१ वाली पोथीके प्रथम चार पत्रे (पन्ने) सं० १६६१ के लिखे नहीं हैं। वे पं० शिवलालपाठकजीकी पोथीसे उतारे गये हैं जिसमें भी 'जो' पाठ है। आरेकी मठियामें एक पोथी दो सौ साठ वर्षसे अधिक पुरानी लिखी हुई है। उसमें भी 'जो' पाठ है। मिरजापुर निवासी श्री ६ पं० रामगुलाम द्विवेदीजीने सर्वप्रथम महान् परिश्रम करके एक संशोधित पोथी द्वादशग्रन्थोंकी तैयार की जो उनके पीछे कई प्रेसोंमें छपी। श्रीरामचरितमानसकी एक प्रति गुटकाके रूपमें काशीजीमें संवत् १९४५ वि० में प्रकाशित हुई। सुना जाता है कि उसमें भी 'जो' पाठ है। प्रायः इसीके आधारपर लाला छक्कनलालजी, भागवतदासजी मानसी वन्दनपाठकजीने अपनी-अपनी पोथियाँ लिखी हैं। इनमें तथा पं० श्रीशिवलालपाठकजीकी पोथीमें भी 'जो' पाठ है। सं० १७०४, १७२१, १७६२ में यही पाठ है। पंजाबीजीकी सं० १८७८ की पोथीमें 'जिहं' पाठ है। कई प्राचीन टीकाकारोंने भी 'जिहि', 'ज्यहि', 'जेहि' पाठ दिया है। आधुनिक छपी हुईमें नागरीप्रचारिणीसभा (प्रथम संस्करण), विनायकीटीकाकार और वीरकविजीने भी 'जेहि' पाठ दिया है। गोस्वामीजीका क्या पाठ है यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि 'जेहि' पाठ रहा हो, पीछे ग्रन्थकारने स्वयं बदलकर 'जो' किया हो। अथवा, पण्डितोंने मात्राओंकी संख्याके विचारसे 'जेहि' का 'जो' कर दिया हो। दोनों पाठ शुद्ध माने जा सकते हैं।

'जेहि' पाठमें यह दोष कहा जाता है कि *'जेहि'* पदसे सोरठेके प्रथम चरणमें ग्यारहके बदले बारह मात्राएँ हो जाती हैं, जिससे प्रस्तारके विरुद्ध होनेसे 'यतिभंग' दोष आ जाता है। संस्कृतभाषाके अनुसार *'जे'* दीर्घ है परन्तु हिन्दीभाषाके महाकवि श्रीमद्गोस्वामीजीने उच्चारणके अनुसार इसको जहाँ-तहाँ लघु ही माना है। यथा—*'जस मानस जेहिं बिधि भयेउ जग प्रचार जेहिं हेतु।'* (१। ३५), *'जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहि पान किय।'* (४ मं०), *'करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति।'* (२। १५१), *'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद।'* (७। ८८) इत्यादि। ठौर-ठौरपर *'जेहि'* शब्द गोस्वामीजीने दिये हैं। इनमें दोषकी निवृत्ति फिर कैसे की जायगी?

'जो' पाठ पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकीघाट) और रामायणी श्रीरामबालकदासजी आदि श्रीअयोध्याके महात्माओंने स्वीकार किया है। अतः हमने भी वही पाठ रखा है।

यदि *'जे'* को उच्चारणके अनुसार लघु मानें तो भाषाके मङ्गलाचरणमें 'नगण' गण पड़ेगा और यदि यह मानें कि *'जे'* गुरु ही माना जायगा चाहे उच्चारण करनेमें उसे ह्रस्व ही पढ़ें तो 'भगण' गण पड़ेगा। *'जो'* पाठसे भी 'भगण' गण ही होगा। नगणका देवता स्वर्ग और फल सुख है। भगणका देवता चन्द्रमा और फल निर्मल यश है। (मं० श्लो० १ देखिये।)

टिप्पणी—१ *'जो सुमिरत……'* इति। *'जो सुमिरत……'* का भाव कि—(क) जप, तप, पूजन आदिका अधिकार सबको नहीं होता और स्मरणका अधिकार सब वर्णाश्रमोंको है। आपके स्मरणमात्रसे ही सिद्धि मिलती है। इस पदको देकर सबको स्मरणका अधिकारी जनाया। *'जो'* अर्थात् कोई भी वर्णाश्रमवाला हो, अथवा वर्णबाह्य अन्त्यज हो एवं चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष, वृद्ध, युवा, बालक कोई भी हो जो भी स्मरण करे वह मनोरथ सिद्ध कर ले। (ख) *'सुमिरत'* अर्थात् स्मरण करते ही कामनाकी सिद्धि होती है, स्मरणहीकी देर है, सिद्धिमें देरी नहीं। प्रस्थान करनेमें आपका केवल स्मरण ही तो किया जाता है। (ग) [पं० सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि *'सुमिरत'* से जनाया कि अभी मैं आपकी वन्दनाके योग्य नहीं हूँ। आप कृपा करें और मैं रामचरितमानस लिखूँ तब वन्दनाके योग्य होऊँ।]

२ *'सिधि होइ' इति।* गोस्वामीजी यहाँ यह नहीं लिखते कि क्या सिद्धि होती है। इसका कारण यह है कि यदि कोई एक-दो नाम दे देते तो इति हो जाती। नाम न देकर सूचित किया कि सब मनोरथ सिद्ध होते हैं अर्थात् मन, कर्म और वचन तीनों सिद्ध होते हैं; सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। [भगवत् या योगसम्बन्धी आठ सिद्धियाँ ये हैं—(१) अणिमा (यह प्रथम सिद्धि है जिससे अणुवत् सूक्ष्मरूप धारण कर सकते हैं, जिससे किसीको दिखायी नहीं पड़ते और कठिन-से-कठिन पदार्थमें प्रवेश कर जाते हैं)। (२) महिमा (इससे योगी अपनेको बहुत बड़ा बना लेता है)। (३) गरिमा (=गुरुत्व, भारीपन। इससे साधक अपनेको चाहे जितना भारी बना लेता है)। (४) लघिमा (इससे जितना चाहे उतना हलका बन जाता है)। (५) प्राप्ति (इच्छित पदार्थकी प्रापक है)। (६) प्राकाम्य (इससे मनुष्यकी इच्छाका व्याघात नहीं। इच्छा करनेपर वह पृथ्वीमें समा सकता, आकाशमें उड़ सकता है)। (७) ईशित्व (इससे सबपर शासनका सामर्थ्य हो जाता है)। और (८) वशित्व (इससे दूसरोंको वशमें किया जाता है)। इनके अतिरिक्त दस सामान्य सिद्धियाँ हैं; यथा—'अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः। प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता॥ गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति॥', 'अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम्। मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्॥ स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्। यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः॥' (भा० ११। १५। ४—७) (अर्थात् इस शरीरमें छः ऊर्मियों भूख-प्यासादिका न होना, दूरकी बात सुन लेना, दूरकी घटना देख लेना, मनके समान शीघ्र गति होना, अभिलषित रूप धर लेना, पर-कायामें प्रवेश करना, स्वेच्छा-मृत्यु, देवताओंकी क्रीडाका दर्शन, संकल्पसिद्धि, आज्ञा (जिसका उल्लङ्घन न हो सके) और अप्रतिहतगति—ये दस सामान्य सिद्धियाँ सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होती हैं)। इनके अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। त्रिकालज्ञता, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अभिभूत न होना, पराये मनकी जान लेना, अग्नि-सूर्य-जल आदिकी शक्तिको बाँध लेना और पराजित न होना। यथा—'त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता। अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः॥' (भा० ११। १५। ८)

☞ विनयपत्रिकामें *'जो सुमिरत सिधि होइ'* की जगह *'सिद्धिसदन'* विशेषण है। इससे दोनोंका भाव साम्य समझकर हमने 'सिद्धियों' का वर्णन यहाँ किया है। इस तरह *'जो सुमिरत सिधि होइ'* में यह भाव होता है कि योगसाधनद्वारा जो कष्टसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वह गणेशजीके 'सुमिरन' मात्र साधनसे सुलभ हो जाती हैं।]

३ *'गननायक करिबर बदन' इति।* (क) गणोंके स्वामी कहनेका भाव कि शिवजीके गण क्रूर-स्वभाव, उपद्रवी और विघ्नकारक होते हैं। आपकी वन्दना करनेसे वे विघ्न न करेंगे, क्योंकि आप उनके स्वामी हैं। (ख) प्रथम कहा कि जिनके स्मरणसे 'सिद्धि' प्राप्त होती है, वे कौन हैं? उनके क्या नाम, रूप आदि हैं? यह *'गन नायक……'* से बताया। गननायक (अर्थात् गणेशजी) उनका नाम है। पर गणनायक

और भी हैं जैसे कि कार्त्तिकेय आदि। यथा—**'स्कन्दश्च सेनापतिः', 'सेनानीनामहं स्कन्दः'** (गीता १०। २४) तथा **'आनन्दकन्दाय विशुद्धबुद्धये शुद्धाय हंसाय परावराय। नमोऽस्तु तस्मै गणनायकाय श्रीवासुदेवाय महाप्रभाय॥'** (पद्मपु० भूमिखण्ड ९८। १३) अर्थात् जो आनन्दके मूलस्रोत, विशुद्धज्ञानसम्पन्न, शुद्ध हंसस्वरूप हैं, कार्य-कारण-जगत् जिनका स्वरूप है, जो सम्पूर्ण गणोंके स्वामी और महाप्रभासे परिपूर्ण हैं, उन श्रीवासुदेवको नमस्कार है। (इसमें वासुदेवको *'गन नायक'* कहा है)। अतः इस अतिव्याप्तिके निवारणार्थ *'करिबर बदन'* कहा। अथवा, *'करिबर बदन'* कहनेसे पशुत्वदोष आरोपण होता, अतएव उसके निवारणार्थ *'बुद्धिरासि सुभ गुन सदन'* कहा। (*'करिबर बदन'* होनेका कारण आगे गणेशजीकी कथामें दिया गया है।

४ *'बुद्धि रासि सुभ गुन सदन'* इति। (क) गणेशजीकी दो शक्तियाँ हैं, सिद्धि और बुद्धि (प्रथम चरणमें सिद्धिका नाम दिया और अन्तिममें बुद्धिका)। यथा—**'ॐकारसन्निभानमिन्दुभालं मुक्ताग्रबिन्दुममलं द्युतिमेकदन्तम्। लम्बोदरं कलचतुर्भुजमादिदेवं ध्यायेन्महागणपतिं मतिसिद्धिकान्तम्॥'** अर्थात् ॐकारसदृश हाथीके-से मुखवाले, जिनके ललाटपर चन्द्रमा और बिन्दुतुल्य मुक्ता विराजमान हैं, जो बड़े तेजस्वी और एक दाँतवाले हैं, जिनका उदर लम्बायमान है, जिनकी चार सुन्दर भुजाएँ हैं उन बुद्धि और सिद्धिके स्वामी आदिदेव गणेशजीका ध्यान करें। पुनश्च, **'गणेश हेरम्ब गजाननेति महोदर स्वानुभवप्रकाशिन्। वरिष्ठ सिद्धि- प्रिय बुद्धिनाथ वदन्त एवं त्यजत प्रभीतीः॥'** (स्तोत्ररत्नावली गी० प्रे०) अर्थात् हे गणेश! हे हेरम्ब! हे गजानन! हे महोदर! हे स्वानुभवप्रकाशिन्! हे वरिष्ठ! हे सिद्धिप्रिय! हे बुद्धिनाथ! ऐसा कहते हुए आप-लोग डर छोड़ दें। (स्तोत्र० ६० श्लोक १०) [पुनः भाव कि राशि (ढेरी) बाहर रहती है, सबको सुगमतासे प्राप्त होती है अतः 'बुद्धिराशि' कहकर जनाया कि आप सबको बुद्धि प्रदान करते हैं। विनयपत्रिकामें *'बुद्धिविधाता'* का भाव 'बुद्धिराशिमें' है अर्थात् आप बुद्धिके उत्पन्न, विस्तार या विधान करनेवाले हैं, बुद्धिके दाता या प्रकाशक हैं। 'शुभगुणोंके सदन' कहनेका भाव कि सदनमें पदार्थ गुप्त रहता है। कोई 'अति संकोची' (अधिकारी) ही पाता है। यहाँ भगवत्-प्राप्ति करानेवाले गुण 'शुभगुण' हैं। ये गुप्त पदार्थ हैं। ये पदार्थ अधिकारीको ही देते हैं। इसीसे 'अनुग्रह' करनेको कहा। अर्थात् यद्यपि मैं अधिकारी नहीं हूँ तो भी आप कृपा करके दे सकते हैं। (रा० प्र० से)] (ख) *'सिद्धि', 'बुद्धि'* दोनोंको कहकर व्यञ्जित किया कि यहाँ शक्तिसहित गणेशजीकी वन्दना की गयी है। (ग) ['गणनायक' के साथ *'बुद्धि रासि सुभ गुन सदन'* विशेषण देनेका तात्पर्य यह है कि उनमें गणोंके राजा होनेके पूर्ण गुणधर्म वर्तमान हैं। अतः वे अपने पदके सुयोग्य पात्र और अधिकारी हैं।] *'जो सुमिरत सिधि होइ'* से गणेशजीका प्रभाव कहा। *'गन नायक'* से नाम, *'करिबर बदन'* से रूप, और *'बुद्धि रासि सुभ गुन सदन'* से गुण सूचित किये। *'जो सुमिरत सिधि होइ'* प्रथम कहा और *'बुद्धि रासि सुभ गुन सदन'* पीछे कहा, यह 'मुद्रालङ्कार' हुआ। (खर्रा) *'जो सुमिरत सिधि होइ'* में 'अक्रमातिशयोक्ति है। यथा—*'कारण और कारज दुहूँ जो बरनिय एक संग। अक्रमातिशय उक्ति सो भूषण कविता अङ्ग॥'* **'अक्रमातिशयोक्तिस्यात्सहत्वे हेतुकार्ययोः।' 'सूच्यार्थसूचने मुद्राप्रकृतार्थपरैः पदैः॥'** (कुवलयानन्द १४०, १३९) अर्थात् जब हेतु और कार्य साथ ही कहा जाता है तब वहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति' अलङ्कार होता है॥ १४०॥ शब्दोंसे साधारण अर्थ जो प्रकट हो रहा है उसके अतिरिक्त उन्हीं शब्दोंसे जहाँ कवि अपने हृदयका लक्षित अन्य भाव सूचित करता है वहाँ 'मुद्रा अलङ्कार' होता है।

६—इस सोरठेमें स्पष्टरूपसे नाम नहीं दिया क्योंकि प्रथम पूज्य होनेसे नाम प्रसिद्ध ही है।

विशेष भाव

पं० रामकुमारजी—(क) गणेशजी श्रीरामनामके प्रभावसे प्रथम पूजनीय हैं । वे तो श्रीरामजीके स्वरूप ही हैं। (ख) **'रामस्य नामरूपं च लीलाधाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥'** (वसिष्ठसंहिता) इस श्लोककी सब बातें सोरठेमें हैं, जैसे कि 'नाम'—*गननायक।* 'रूप'—*करिबरबदन।* 'लीला'—*'सुमिरत*

सिधि होइ', और 'धाम'—*सुभ गुन सदन।* इस प्रकार इस मङ्गलाचरणमें गणेशजीका 'नाम-रूप-लीला-धामात्मक' स्मरण है। (ग) इस सोरठेमें तीन बातें कहीं। सिद्धि, बुद्धि, और शुभगुण। क्योंकि कवितामें इन तीनोंकी आवश्यकता है। गोस्वामीजी चाहते हैं कि हमारा कार्य सिद्ध हो, ग्रन्थकी सिद्धि हो, रामचरित रचनेमें हमें उसके योग्य बुद्धि प्राप्त हो और इसमें काव्यके सब समीचीन गुण आ जावें। [प्रत्येक कविको तीन वस्तुओंकी चाह एवं जरूरत होती है। एक तो विघ्नबाधाओंसे रक्षा; क्योंकि बिना विक्षेपरहित मनके किसी लोकोपयोगिनी कीर्तिका संस्थापन नहीं हो सकता। अतः 'निर्विघ्नता' के लिये *'जो सुमिरत सिधि होइ'* कहा। दूसरे प्रतिभा, मेधा, बुद्धि—इसके लिये *'बुद्धि रासि'* कहा। तीसरे दिव्य गुणोंकी एकत्रता; क्योंकि इसमें मन पक्षपातरहित हो जाता है। अतः दिव्य गुणोंके सम्पादनके लिये *'सुभ गुन सदन'* का उल्लेख किया। (पं० रामगुलाम द्विवेदी, लाला छक्कनलाल)]

गणनायक श्रीगणेशजी

(१) ये स्मार्तोंके पञ्चदेवोंमेंसे एक हैं। वैवस्वतमन्वन्तरके इन गणेशजीका सारा शरीर मनुष्यका-सा है पर सिर हाथीका-सा, चार हाथ और एक दाँत हैं, तोंद निकली हुई, सिरपर तीन आँखें और ललाटपर अर्द्धचन्द्र है।

श्रीगणेशजीकी उत्पत्तिकी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणके गणेशखण्डके अध्याय ७ में भी है। प्रथम षष्ठाध्यायमें पार्वतीजीका पुत्रप्रासिक यज्ञ करनेका वर्णन है; जिसमें समस्त देवता, मुनि, महर्षि आदि आये थे। शिवजीने उस महासभामें विष्णुभगवान्‌से प्रार्थना की। जिसे सुनकर भगवान्‌ने पार्वतीजीको व्रतादिका उपदेश किया। फिर व्रताराधनासे सन्तुष्ट हो पार्वतीजीपर कृपा करके श्रीकृष्णभगवान्‌का प्रकट होना और वर देना वर्णन किया गया है। (अध्याय ९ श्लोक० १६) अष्टमाध्यायपर्यन्त गणेशजीका रूप वर्णन किया गया है।

'करिबर बदन' इति। हस्तिमुखप्राप्तिकी कथा इस प्रकार वर्णन की गयी है। शङ्करजीके पुत्रोत्सवमें आमन्त्रित सब देवताओंने आकर बालक गणेशजीको आशीर्वाद देकर विष्णु-विधि-शिवादिसहित सभी महासभामें सुखपूर्वक विराजमान हुए। तदनन्तर सूर्यपुत्र शनैश्चर आये और त्रिदेवको प्रणामकर उनकी आज्ञासे पार्वतीजीके महलमें गणेशजीके दर्शनार्थ गये। **'एतस्मिन्नन्तरे तत्र द्रष्टुं शङ्करनन्दनम्। आजगाम महायोगी सूर्यपुत्रः शनैश्चरः॥ अत्यन्तनम्रवदन ईषन्मुदितलोचनः।'** (अ० ११। ५, ६) इनको नीचे मस्तक किये हुए देख पार्वतीजी बोलीं कि हमको और हमारे पुत्रको क्यों नहीं देखते हो? मुख नीचे क्यों किये हो? **'कथमानम्रवक्त्रस्त्वं श्रोतुमिच्छामि साम्प्रतम्। किं न पश्यसि मां साधो बालकं वा ग्रहेश्वर॥'**(१८) शनैश्चरने अपनी पत्नीसे प्राप्त शाप इसमें कारण बताया कि हमारी दृष्टि जिसपर पड़ेगी उसका नाश हो जायगा। शापकी कथा सुनकर भी पार्वतीजीने न माना और कुतूहलसे कहा कि तुम निःशङ्क होकर मुझको और मेरे पुत्रको देखो। (अ० १२। २) बहुत समझानेपर भी न माननेपर शनिने धर्मको साक्षीकर ज्यों ही नेत्रके कोरसे सौम्यदृष्टि शिशुके मुखपर डाली, दृष्टिमात्रसे उसका सिर कट गया। **'सव्यलोचनकोणेन ददर्श च शिशोर्मुखम्॥ शनैश्चरदृष्टिमात्रेण चिच्छेद मस्तकं मुने। विवेश मस्तकं कृष्णे गत्वा गोलोकमीप्सितम्॥'**(५, ७) और वह छिन्न मस्तक अपने अंशी श्रीकृष्णभगवान्‌में प्रविष्ट हो गया*। पार्वतीजी पुत्रशोकसे मूर्च्छित हो गयीं। कैलासपर कोलाहल मच गया। सब देवता विस्मित हो गये; सबको मूर्च्छित देख भगवान्‌ने गरुड़पर सवार हो पुष्पभद्रा नदी-तीर जाकर

---

* शनैश्चरकी पत्नी चित्ररथ गन्धर्वकी कन्या थी। यह बड़े उग्र स्वभावकी थी। एक बार शनि भगवद्ध्यानमें मग्न थे। उसी समय वह शृङ्गार किये मदमाती इनके पास गयी। ध्यानावस्थित होनेसे इन्होंने उसकी ओर नहीं देखा। इसीपर उसने शाप दे दिया। 'हरेः पादं ध्यायमानं पश्यन्ति मदमोहिता। मत्समीपं समागत्य सस्मिता लोललोचना॥ शशाप मामपश्यन्तमृतुनाशाच्च कोपतः। बाह्यज्ञानविहीनं च ध्यानसंलग्नमानसम्॥ न दृष्टाहं त्वया येन न कृतमृतुरक्षणम्। त्वया दृष्टं च यद्वस्तु मूढ सर्वं विनश्यति॥' (२९—३१)

देखा कि वनमें गजेन्द्र हथिनीसहित सो रहे हैं और उनका सुन्दर बच्चा अलग पड़ा हुआ है। तुरन्त सुदर्शनसे उसका मस्तक काटकर गरुड़पर रखकर वे वहाँ आये जहाँ शिशुका धड़ गोदमें लिये हुए पार्वतीजी बैठी थीं और उस मस्तकको शिशुके धड़पर लगाया। सिरपर लगते ही बालक जी उठा और उसने हुंकार की, '**रुचिरं तच्छिरस्सम्यग्योजयामास बालकम्॥ ब्रह्मस्वरूपो भगवान् ब्रह्मज्ञानेन लीलया। जीवयामास तं शीघ्रं हुंकारोच्चारणेन च॥ पार्वतीं बोधयित्वा तु कृत्वा क्रोडे च तं शिशुम्। बोधयामास तां कृष्ण आध्यात्मिकविबोधनैः॥**' (अ० १२। २०—२२)

(२) कल्पभेदसे गणेशजीके चरित्र अनेक प्रकारके हैं। उनकी उत्पत्ति, गणनायकत्व, हस्तिमुखत्व, प्रथमपूज्यत्व आदिकी कथाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। शनैश्चरकी दृष्टि पड़नेसे शिरोच्छेदन होने और हाथीका मुख जोड़े जानेकी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणकी कही गयी। शिवपुराण रुद्रसंहिता कुमारखण्डमें वह कथा है जिसमें शिवजीने ही उनका सिर काट डाला था। यह कथा श्वेतकल्पकी है और इस प्रकार है—

(क) श्रीपार्वतीजीकी जया और विजया सखियाँ एक बार आपसमें विचार करने लगीं कि जैसे शङ्करजीके अनेक गण हैं वैसे ही हमारे भी आज्ञाकारी गण होने चाहिये, क्योंकि शिवगणोंसे हमारा मन नहीं मिलता। एक समय श्रीपार्वतीजी स्नान करती थीं। नन्दीश्वर द्वारपर थे। उनके मना करनेपर भी शिवजी भीतर चले आये। यह देख पार्वतीजीको सखियोंका वचन हितकारी एवं सुखदायक समझ पड़ा। अतएव एक बार परम आज्ञाकारी अत्यन्त श्रेष्ठ सेवक उत्पन्न करनेकी इच्छा कर उन्होंने अपने शरीरके मैलसे सर्वलक्षणसम्पन्न एक पुरुष निर्माण किया जो सर्वशरीरके अवयवोंनें निर्दोष तथा सर्वावयव विशाल, शोभासम्पन्न महाबली और पराक्रमी था। उत्पन्न होते ही देवीने उसको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृतकर आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम मेरे पुत्र हो। गणेशजी बोले कि आज आपका क्या कार्य है? मैं आपकी आज्ञा पूरी करूँगा। श्रीपार्वतीजीने कहा कि मेरे द्वारपाल हो। द्वारपर रहो। कोई भी क्यों न हो उसे भीतर न आने देना। द्वारपर बिठाकर वे सखियोंसहित स्नान करने लगीं। इतनेहीमें शिवजी आये। भीतर जाने लगे तो गणेशजीने रोका और न माननेपर उनपर छड़ीसे प्रहार किया। भीतर नहीं ही जाने दिया। तब गणेशजी-पर क्रुद्ध होकर उन्होंने गणोंको आज्ञा दी कि इसे देखो 'यह कौन है? क्यों यहाँ बैठा है?' और बाहर ही बैठ गये। (अ० १३) शिवगणों और गणेशजीमें बहुत वाद-विवाद हुआ। वे शिवाज्ञापालनपर आरूढ़ और ये माताकी आज्ञापालनपर आरूढ़। आखिर शिवजीने युद्धकी आज्ञा दी। (अ० १४) गणेशजीने अकेले ही समस्त गणोंको मारकर भगा दिया। तब ब्रह्माजी शिवजीकी ओरसे शान्ति कराने आये। आपने ब्रह्माकी दाढ़ी-मूँछ उखाड़ ली, साथके देवताओंको मारा, सब भाग गये। फिर भगवान् विष्णु, शिवजी, इन्द्रादि देवता, कार्त्तिकेय आदि संग्रामको आये, पर कोई गणेशजीको जीत न सका। अन्तमें जब विष्णुसे युद्ध हो रहा था उसी बीचमें शिवजीने त्रिशूलसे गणेशजीका सिर काट डाला। नारदजीने पार्वतीजीको समाचार देकर कलह बढ़ायी। (अ० १५, १६) पार्वतीजीने एक लक्ष शक्तियोंको निर्माणकर सबका नाश करने भेजा। वे जाकर सबको भक्षण करने लगीं। हाहाकार मच गया तब नारदको आगे कर सब देवता दीनतापूर्वक पार्वतीजीके पास आकर उन्हें प्रसन्न करने लगे। पार्वतीजीने कहा कि यदि मेरा पुत्र जी जाय और तुम सबोंके मध्यमें पूजनीय हो तभी संहार रुक सकता है। यथा—'**मृतपुत्रो यदि जीवेत् तदा संहरणं न हि। यथा हि भवतां मध्ये पूज्योऽयं च भविष्यति॥**' (१७। ४) सबोंने इसे स्वीकार किया। शिवजीने देवताओंसे कहा कि आप उत्तर दिशामें जाइये। जो पहले मिले उसका सिर काटकर गणेशजीके शरीरमें जोड़ दीजिये। एक दाँतवाला हाथी उनको प्रथम मिला। उसका सिर काट लाकर उन्होंने गणेशजीके सिरपर लगा दिया। फिर जलको अभिमन्त्रित कर उनपर छिड़का जिससे बालक जी उठा। इस कारण '*करिबर बदन*' वा '*गजानन*' नाम पड़ा। (अ० १७) पुत्रको जीवित देख माताने प्रसन्न होकर बहुत आशीर्वाद दिये और कहा कि जो तुम्हारी सिन्दूर, चन्दन, दूर्वा आदिसे पूजा कर नैवेद्य, आरती, परिक्रमा तथा प्रणाम करेगा उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँगी और पूजनसे विघ्न दूर होंगे। यथा—'**तस्य वै सकला सिद्धिर्भविष्यति**

न संशयः। **विघ्नान्यनेकरूपाणि क्षयं यास्यन्त्यसंशयम्॥'** (१८। १२) देवताओंने बालकको शिवजीकी गोदमें बिठा दिया और उन्होंने इन्हें अपना दूसरा पुत्र स्वीकार किया। तब गणेशजीने पिताको तथा भगवान् विष्णु, ब्रह्मा आदिको प्रणाम कर क्षमा माँगते हुए कहा कि मनुष्योंमें मान ऐसा ही होता है। त्रिदेवने एक साथ वर दिया कि यह हमारे समान पूजनीय होगा, इसकी पूजा बिना जो हमारी पूजा करेगा उसको पूजाका फल न मिलेगा। यह गणेश विघ्नहर्ता और सब कामनाओं एवं फलोंको देनेवाला होगा। यथा—'**गणेशो विघ्नहर्ता हि सर्वकामफलप्रदः॥**' (१८। २२) इस प्रकार गणेशजी विघ्नविनाशन और सबकामनाओंके देनेवाले हैं। शिवजीने वर दिया कि विघ्न हरनेमें तुम्हारा नाम सदा श्रेष्ठ होगा। तुम मेरे सब गणोंके अध्यक्ष और पूजनीय होगे। इसीसे '*सुमिरत सिधि होइ*' और 'गणनायक' हुए। यथा—'**त्वन्नाम विघ्नहर्तृत्त्वे श्रेष्ठं चैव भवत्विति। मम सर्वगणाध्यक्षः सम्पूज्यस्त्वं भवाधुना॥**' (१८। ३१) गणेशजीकी उत्पत्ति भाद्रपद कृष्ण चतुर्थीको चन्द्रोदयके समय हुई थी।

(ख) अब सिद्धि-बुद्धिके साथ विवाहकी कथा सुनिये। विवाहके योग्य होनेपर दोनों पुत्रोंका विवाह करनेका विचार होने लगा। दोनों पुत्र कहने लगे कि पहले हमारा ब्याह करो। मातापिताने यह युक्ति निकाली कि तुममेंसे जो प्रथम सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा करके आवेगा उसीका ब्याह पहले होगा। कार्तिकेय प्रदक्षिणाके लिये चल दिये। गणेशजीने बारम्बार बुद्धिसे विचारकर यथायोग्य स्नानकर घरमें आ माता-पितासे बोले कि मैं आपको सिंहासनासीन कर आपको पूजा करना चाहता हूँ। उन्होंने पूजा ग्रहण करना स्वीकार किया। गणेशजीने पूजनकर सात बार परिक्रमा की और प्रेमपूर्वक हाथ जोड़ स्तुति कर विनय की कि आप मेरा विवाह शीघ्र कर दें। उन्होंने कहा कि पृथ्वीकी परिक्रमा कर आओ। तब गणेशजी बोले कि मैंने तो सात परिक्रमाएँ कर लीं। वेद, शास्त्र, धर्मसञ्चयमें लिखा है कि जो मातापिताका पूजन कर उनकी परिक्रमा करता है उसको पृथ्वीकी परिक्रमाका फल होता है। जो माता-पिताको घरमें छोड़ तीर्थको जाता है, उसे उनको मारनेका पाप लगता है। यथा—'**पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रक्रान्तिं च करोति यः। तस्य वै पृथिवीजन्यफलं भवति निश्चितम्॥**' (१९। ३९) अतएव मेरा शीघ्र विवाह कीजिये, नहीं तो वेदशास्त्रोंको असत्य कीजिये। गणेशजीके वचन सुनकर दोनों प्रसन्न हुए। उसी समय विश्वरूप प्रजापति आ गये। उन्होंने अपनी 'सिद्धि', 'बुद्धि' नामकी दोनों कन्याओंको विवाह देनेकी प्रार्थना की। अतः धूमधामसे ब्याह कर दिया गया। सिद्धिसे क्षेम और बुद्धिसे लाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुए। कार्तिकेयजीको नारदजीने हुस्का दिया जिससे वे रुष्ट होकर माता-पिताको प्रणामकर क्रौञ्चपर्वतपर चले गये और फिर उन्होंने विवाह भी नहीं किया।

(ग) प्रथम पूज्य होनेकी कथा दोहा १९ की अर्धाली ४ में दी गयी है।

(३) पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें पुलस्त्यजीने भीष्मपितामहजीसे गणेशजीके जन्मकी कथा इस प्रकार कही है। एक समयकी बात है कि गिरिजाजीने सुगन्धित तैल और चूर्णसे अपने शरीरमें उबटन (अङ्गराग) लगवाया। उससे जो मैल गिरा उसे हाथमें उठाकर उन्होंने एक पुरुषकी आकृति बनायी, जिसका मुख हाथीके समान था। फिर खेल करते हुए श्रीपार्वतीजीने उसे गङ्गाजीके जलमें डाल दिया। गङ्गाजी अपनेको पार्वतीजीकी सखी मानती थीं। उसके जलमें पड़ते ही वह पुरुष बढ़कर विशालकाय हो गया। पार्वतीजीने उसे पुत्र कहकर पुकारा। फिर गङ्गाजीने भी पुत्र सम्बोधित किया। देवताओंने गाङ्गेय कहकर सम्मानित किया। इस प्रकार गजानन देवताओंके द्वारा पूजित हुए। ब्रह्माजीने उन्हें गणोंका आधिपत्य प्रदान किया। इस कल्पकी कथाके अनुसार '*करिबरबदन*' वे जन्मसे ही थे। (अ० ४५। ४४५—४४९) सृष्टिखण्डमें ही सञ्जयजीसे जो कथा व्यासजीने कही है उसमें लिखा है कि श्रीपार्वतीदेवीने शङ्करजीके संयोगसे स्कन्द और गणेश नामके दो पुत्रोंको जन्म दिया। (अ० ६५। ५)

(४) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीने यह शङ्का उठाकर कि 'खण्डितरूप (अर्थात् एक ही दाँत) धारण करनेका क्या हेतु है?' इसका समाधान यह किया है कि 'पूर्व जन्मके अभिमानी पशुयोनि पाते हैं। वह अभिमान

शृङ्गरूपसे देख पड़ता है। हाथी विद्याभिमानी था, इसीसे उसका शृङ्ग उसके मुखकी राह निकला। अभिमान दो प्रकारका है। एक तो अपनेको बड़ा मानना, दूसरा भक्ताभिमान। यथा—'*अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥*' (३। ११) भक्ताभिमान कल्याणकारी है। यह दक्षिण दन्त है। परम मङ्गलहेतु गणेशजीका वामदन्त तोड़ डाला गया। अतः एकदन्त हैं।'

मङ्गलाचरणमें गणेशजीकी स्तुति

गोस्वामीजीके इष्ट श्रीरामजी हैं, तब प्रथम मङ्गलाचरणमें गणेशजीकी स्तुति कैसे की? संस्कृत मङ्गलाचरण श्लोकमें भी कुछ इस विषयपर लिखा जा चुका है। कुछ यहाँ भी लिखा जाता है—

(१) इस ग्रन्थके आदिमें श्रीगणेशजीका मङ्गलाचरण किया है। इस तरह गोस्वामीजीने अपने अतिप्रसिद्ध बारह ग्रन्थोंमेंसे छःमें गणेशवन्दना की है और छः में नहीं की। ऐसा करके उन्होंने पूर्वाचार्योंकी दोनों रीतियाँ दिखायी हैं। वह यह कि कोई आचार्य गणेशवन्दना करते हैं और कोई नहीं भी करते। (पं० रा० कु०। विनय-पीयूषसे)

(२) आरम्भमें श्रीगणेशजीकी वन्दना करनेका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि गणेशजी अद्वितीय लेखक थे। अठारहों पुराणोंके मननशील द्रुतलेखक श्रीगणेशजी ही हैं। किसी भी कार्यको निर्विघ्न समाप्त करनेकी कामनासे सिद्धिदाता गणेशजीका स्मरण-पूजन प्रारम्भमें किया जाता है। आस्तिक हिन्दू लेखकोंका विश्वास है, दृढ़ धारणा है कि सिद्धिदाता श्रीगणेशजी प्रसिद्ध और अद्वितीय लेखक हैं। अतः ग्रन्थारम्भके पूर्व इनका स्मरण अवश्य करते हैं। ऐसा करनेसे ग्रन्थसमाप्तिमें विघ्नकी सम्भावना नहीं रहती।

(३) भगवान्‌के चार प्रकारके अवतार शास्त्रोंमें कहे गये हैं। आवेश, अंश, कला और पूर्ण। जिसमें उपचित पुण्य विशेष हो ऐसे जीवात्माके अन्दर शक्ति आवेश होकर कार्य करनेवाला आवेशावतार। जैसे, ब्रह्मावतार, इन्द्रावतार, शिवावतार, इत्यादि। इन्हीं आवेशावताररूप अधिकारी पुरुषोंमें श्रीगणेशावतार भी है। अतः '**वसवोऽष्टौ त्रयः काला रुद्रा एकादशस्मृताः। तारकादश चैवांशास्त्वमेव रघुनन्दनः॥**' इत्यादि प्रमाणानुसार श्रीगोस्वामीजी 'गणपति, रुद्र, शक्ति और सूर्यादि देवताओंके अन्दर आवेशावतार श्रीजानकीवल्लभ ही तत्त्व-दैवतरूपमें हैं,' ऐसा समझकर स्तुति करते हैं। अतः अनन्यताका भङ्ग न समझना चाहिये। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)

(४) प्रभुको छोड़ भक्तकी वन्दना की; क्योंकि उससे अनहोनी बात भी हो सकती है, प्रभु अपने उपासकको इतना मानते हैं। साक्षात् गणेश नाम न दिया, क्योंकि नामजपके कारण कवि उनको गुरु समझते थे। (सू० मिश्र) (पृष्ठ ५३ टि० ६ भी देखिये।)

(५) पं० जगन्नाथधर दूबेने पाँड़े रामबख्शके भावको यों कहा है—'इस सोरठामें गुसाईंजीने श्रीगणेशजीकी वन्दना करके सनातन परम्पराका निर्वाहमात्र किया है, ऐसा कहनेका साहस नहीं होता। एक बार पाठ करनेके अनन्तर यदि हम अपनी ही आत्मासे पूछें तो हमें कुछ और ही उत्तर मिलेगा। उस स्पष्ट उत्तरमें श्रीपरमाचार्य गुसाईंजीकी ऋषिगणसुलभ उदारता, भक्तोचित प्रेमकी पराकाष्ठा और सन्तजनसुलभ सम्यक् ज्ञानकी गरिमाका दिव्य दर्शन होगा। अपने इष्टमें तल्लीन रहते हुए भी उन्होंने प्रथमपूज्य श्रीगणेशजीकी वन्दना उसी उत्साह और प्रेमसे की है जैसा कि कोई परमानन्य गाणपत्य कर सकता है। श्रीरामभक्तिरूपी वर्षा-ऋतुसे पञ्चदेवोपासनारूपी इतर पञ्चऋतुओंका पोषण किया है।'

(६) श्रीवन्दनपाठकजीकी समालोचना तु० प० में यों दी है—'लोकवत्-लीलाके वर्णनमें कविका हार्द, चाहे उस काव्यमें कहीं भी दृष्टि डालिये, अथसे इतितक, सब कहीं चन्द्रमाकी सुधामयी किरणोंकी तरह ज्यों-का-त्यों एकरस अपनी छटा दिखलाता है। उसमें कैवल्यपादकी झलक रहती है। वन्दनामें तो उसका सजीव चित्र उतरा हुआ रहता है।'

(७) पुनः, श्रीजहाँगीर अलीशाह औलियाके 'तुलसीचौपाई' का अनुवाद तु० प० में यों दिया है

कि 'इस सोरठाके भावकी विनयपत्रिकाके गणपतिवन्दनासे तुलना करनेपर हमें साफ-साफ मालूम हो जाता है कि श्रीगुसाईंजी अपने अभिप्रेत वस्तुका क्या मूल्य रखते हैं। वे बहुदेववाद और पञ्चदेववादको बर्तते हुए भी सिर्फ व्यभिचार अर्थात् अपने और इष्टके बीचमें किसी औरको स्थान देनेकी गन्ध भी नहीं लगने देते। जैसे कमल इस बातका ज्वाल्य उदाहरण है कि वह पानीमें रहकर भी पानीसे अलग अपनी स्थिति रखता है, उसी तरह गुसाईंजी भी आध्यात्मिक जगत्में इस बातके एक ही और सच्चे उदाहरण हैं कि बहुदेववाद, पञ्चदेववाद और कहाँतक कहें प्रेत-पितर-गन्धर्व एवं चराचरवादका आश्रय लेते हुए भी वे अपने इष्टके अनन्यभक्त बने रहे। *'सेये न दिगीस, न दिनेस, न गनेस, गौरी, हित कै न माने बिधि हरिउ न हरु।'* (विनय २५०) यह उनकी निष्कामताका प्रमाण और परिणाम है। सबकी स्तुति करके वे क्या माँगते हैं? उसे उन्हींके मधुर शब्दोंमें सुनिये। *'माँगत तुलसीदास कर जोरें। बसहुँ रामसिय मानस मोरें॥'* उनकी यह प्रार्थना तुरन्त स्वीकृत हुई। श्रीरामजीने उनके रचित काव्य 'मानस' में सचमुच वास किया। इस बातकी गवाही वह घटघटवासी प्रभु स्वयं मधुसूदनसरस्वतीकी जुबानपर बैठकर दे रहा है। '**आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरुः। कविता मञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥**'

(८) श्रीस्वामीजी देवतीर्थ (काष्ठजिह्व) '**मानससुधा**' में कहते हैं कि रामचरितमानस मन्त्ररामायण है और मन्त्रोंके आदिमें प्रणव (ॐ)का होना जरूरी है। इसलिये प्रणवस्वरूप गणेशजीकी वन्दना ग्रन्थके आदिमें की गयी है। (तु० प०)

सोरठेमें सातों काण्डोंका अभिप्राय

आदि श्लोक और सोरठेमें सप्त सोपानोंका भाव कहा गया है। प्रथम श्लोकमें यह बात दिखला आये हैं। अब प्रथम सोरठेमें दिखलाते हैं।*

(१) ***'सुमिरत सिधि'*** से बालकाण्ड। क्योंकि इसमें श्रीशिवपार्वतीजी, श्रीनारदजी, श्रीमनुशतरूपाजी, इत्यादिका स्मरण करना और कामनाकी सिद्धि होनेका वर्णन है। यथा—*'सुमिरत राम हृदय अस आवा।'* (१। ५७), *'मन महुँ रामहिं सुमिर सयानी।'* (१। ५९), *'प्रतिपद सुमिरि तजेउ सबु भोगू।'* (१। ७४), ***'सुमिरत हरिहि श्रापगति बाधी।'*** (१। १२५), ***'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा'''''' बिस्वबास प्रगटे भगवाना'।*** (१। १४४—१४६) ***'सुमिरत'*** का प्रयोग इस काण्डमें बहुत हुआ है। पुनः, श्रीदशरथजी महाराजकी पुत्रकामना, श्रीविदेहजी महाराजकी धनुर्भङ्गप्रतिज्ञा, श्रीविश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षा इत्यादिकी सिद्धिके विस्तृत भाव भी इन दोनों शब्दोंमें आ जाते हैं।

(२) ***'होइ'*** और ***'गननायक'*** से अयोध्याकाण्ड। क्योंकि इसमें श्रीअवधपुरवासियोंसहित चक्रवर्ती महाराजकी इच्छा हुई कि श्रीरामजी युवराज 'हों', देवताओंने चाहा कि वनगमन 'हो', राज्यका त्याग 'हो', मन्थरा और श्रीकैकेयीजीने चाहा कि श्रीभरतजी प्रजाके स्वामी 'होवें' इत्यादि। अन्तमें श्रीरामजीकी चरण-पादुकाएँ राजसिंहासनपर पधरायी गयीं।

(३) ***'करिबरबदन'*** से अरण्यकाण्ड। क्योंकि श्रीरामजीके ***'बर बदन'*** से निशाचरवधका सङ्कल्प और श्रीगणेश यहीं हुआ। यथा—***'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'*** (३। ९), *'मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता।'* (३। ७) पुनः, प्रभु श्रीरामजी श्रेष्ठ प्रसन्न मुखसे वनमें विचरते रहे। यहाँतक कि शूर्पणखा और खरदूषणादि भी आपका सुन्दर मुख देखकर मोहित

* नोट—यह क्लिष्ट कल्पना है। परन्तु महात्मा श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीसन्तसिंहजी, पंजाबीजी, पाठकजी इत्यादि कई प्रसिद्ध महानुभावोंके अनुभवसे ये भाव निकले और रामायणीसमाजमें पसन्द किये जाते हैं; इसीसे इस ग्रन्थमें भी उनका संग्रह किया गया है।

हो गये। यथा—*'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा।'* (३। १७), *'जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा।'* (३। १९)

(४) *'करौ अनुग्रह सोइ'* से किष्किन्धाकाण्ड। *'सोइ'* से पूर्व परिचय जनाया, जैसा कि *'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना'* में *'पहिचानि'* शब्दसे सूचित होता है। श्रीहनुमान्‌जी, सुग्रीवजी, बालि, तारा, अङ्गदजी, वानर और वृक्ष सबपर अनुग्रह किया गया। यथा *'तब रघुपति उठाइ उर लावा……।'* (कि० ३), *'सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ।'* (४। १२), *'राम बालि निज धाम पठावा', 'दीन्ह ज्ञान हर लीन्ही माया।'* (४। ११) *'निरखि बदन सब होहिं सनाथा।'* (४। २२) इत्यादि।

(५) *'बुद्धिरासि'* से सुन्दरकाण्ड। क्योंकि इसमें हनुमान्‌जी, जाम्बवन्तजी तथा विभीषणजीकी बुद्धिकी चतुरता और श्रीहनुमान्‌जीकी बुद्धिकी परीक्षा एवं वरदानका वर्णन है। यथा—*'जानइ कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥ सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि……'* (सुं० २) *'जामवंत कह…… सोइ बिजई बिनई गुनसागर……।'* (५। ३०) *'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि॥'* (५। ४१) इत्यादि।

(६) *'सुभ गुन'* से लङ्काकाण्ड। क्योंकि निशाचरोंकी गति, देवताओंका बन्दीखानेसे छूटना, विभीषणजीको राज्य, जगत्‌में 'शुभ गुणोंका' फिरसे प्रचार, प्रभु श्रीरामजीका निशाचरोंमें भी 'शुभ गुण' देखते रहना, इत्यादि 'शुभ' घटनाओंका उल्लेख इस काण्डमें हुआ है।

(७) *'सदन'* से उत्तरकाण्ड। क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीको अपने सदन (धाम) श्रीअवधको तथा वानर, ऋक्ष और विभीषणादिका अपने-अपने स्थानोंको लौटना, देवताओंका सुखपूर्वक अपने-अपने लोकोंमें जा बसना इत्यादिका उल्लेख इस काण्डमें हुआ है।

मूक होहि बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो[1] दयाल, द्रवौ सकल कलिमलदहन॥ २॥

शब्दार्थ—**मूक**=गूँगा। **बाचाल**=(सं. वाचा+अल) वाणीको समर्थ, बहुत बोलनेवाला; वक्ता, वाणीभूषण। यथा—'**अलं भूषणपर्याप्ति शक्तिवारणवाचकम्**।' (अव्यय कोश) **पंगु** (सं)=जिसके पैर न हों। जो पैरसे चल न सकता हो;। **गिरिबर**=बड़े-बड़े पर्वत। **गहन**=गम्भीर, अति विस्तर।=वन; यथा, *'अग्यान-गहन-पावक प्रचंड॥'* (विनय ६४)।=दुर्गम। **गिरिबर गहन**=बड़े दुर्गम पर्वत।=वनसंयुक्त बड़े पर्वत।

अर्थ—जिनकी कृपासे गूँगा भी प्रबल वक्ता वा वाणीभूषण हो जाता है और पङ्गु भी बड़े दुर्गम पर्वतपर चढ़ जाता है, वे कलिके समस्त पापोंको जला डालनेवाले दयालु मुझपर दया करें॥ २॥*

प्रश्न—यहाँ किसकी वन्दना की गयी है?

उत्तर—कोई-कोई महानुभाव यहाँ विष्णुभगवान्‌की वन्दना होना कहते हैं और कोई-कोई सूर्यनारायणकी और कोई-कोई इसमें श्रीरामजीकी वन्दना मानते हैं। अपने-अपने पक्षका पोषण जिस प्रकार ये सब महानुभाव करते हैं, वह नीचे दिया जाता है।

विष्णुपरक सोरठाके कारण

(१) श्री पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि —(क) 'पापनाशन' भगवान् विष्णुका एक नाम है। 'पापनाशन' और *'कलिमलदहन'* एक ही बातें हैं। पुनः, भगवान् विष्णु पाँव (चरण) के देवता हैं। यथा—'**पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः**।' अर्थात् चरण प्रकट होनेपर उनमें गति और पादेन्द्रियके अभिमानी विष्णु स्थित हुए। (भा० ३। २६। ५८) इसलिये इनकी कृपासे पङ्गु बड़े-बड़े दुर्गम पर्वतोंपर चढ़ जाते

१ सुदयाल—१७०४, रा० प्र०, वै०।

* दूसरा अर्थ अन्तमें नोट ४ में दिया गया है।

हैं। भगवान् वाणीके पति हैं। यथा, *'ब्रह्म, वरदेश, वागीश, व्यापक, विमल'''''* (विनय ५४), *'वेद-विख्यात वरदेश, वामन, विरज, विमल, वागीश, वैकुंठस्वामी।'* (विनय ५५), *'वरद, वनदाभ, वागीश, विश्वात्मा, विरज, वैकुंठ-मंदिर-विहारी।'* (विनय ५६) मं० श्लोक १ में भी देखिये। अतः गूँगेको वाचाशक्ति प्रदान करते हैं। जैसे ध्रुवने जब भगवान् हरिकी स्तुति करनी चाही पर जानते न थे कि कैसे करें तब अन्तर्यामी श्रीहरिने अपना शङ्ख उनके कपोलपर छुआ दिया जिससे उनको दिव्य वाणी श्रीहरिकृपासे प्राप्त हो गयी। यथा—'**कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥' स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः॥**'(भा० ४। ९। ४-५) अतएव *'जासु कृपा'*, *'मूक होहि बाचाल'*, *'पंगु चढ़ै गिरिबर'* तथा *'कलिमलदहन'* तीनों विशेषण भगवान् विष्णुमें घटित होते हैं। (ख) '**मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्। यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥**' यह श्लोक स्वामी श्रीधरजीने श्रीमद्भागवतकी टीकामें मङ्गलाचरणमें दिया है जिसमें '**परमानन्दमाधवम्**' नाम देकर वन्दना की है। यह सोरठा अक्षरशः इस श्लोकका प्रतिरूप है; अन्तर केवल इतना है कि श्लोकके '**तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्।**' के स्थानपर सोरठेमें *'सो दयाल द्रवौ कलिमलदहन'* है। सब जानते हैं कि ये गुण किस देवविशेषके हैं; क्योंकि न जाने कबसे *'मूकं करोति'''''* यह श्लोक सब सुनते आ रहे हैं। इसी कारणसे किसी देवविशेषके नामका उल्लेख इस सोरठेमें नहीं किया गया। [नोट—बैजनाथजीका भी यही मत है । श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि 'यहाँपर लगभग किसी सोरठेमें स्पष्ट किसीका नाम नहीं लिखा गया है। सबको विशेषणोंद्वारा ही सूचित किया है। जैसे कि *'गननायक'* और *'करिबरबदन'* विशेषणोंके नामसे ही गणेशजीकी वन्दना सूचित की, *'क्षीरसागरसयन'* विशेषणसे श्रीक्षीरशायी विष्णुकी, *'उमारमन'*, *'मर्दनमयन'* विशेषणोंसे शिवजीकी तथा *'कृपासिंधु'* इत्यादिसे निज गुरुकी वन्दना सूचित की। वैसे ही इस सोरठेमें *'मूक होइ बाचाल'* आदि विष्णुके विशेषण हैं।'] (ग) यहाँ वैकुण्ठवासी विष्णुका मङ्गलाचरण किया। आगे क्षीरशायी विष्णुका मङ्गलाचरण करते हैं। क्योंकि आगे दोनोंके अवतारोंकी कथा कहनी है। जय, विजय एवं जलन्धरके अर्थ वैकुण्ठवासी विष्णुका अवतार है और रुद्रगणोंके लिये क्षीरशायी विष्णुका अवतार है। इस तरह मङ्गलाचरणमें समस्त ग्रन्थकी कथा दिखायी है। [ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा है। उनमेंसे ये तीन इन दो मङ्गलाचरणोंमें दिखाये, चौथा तो दिखाया नहीं, तब यह कैसे कहा कि समस्त ग्रन्थकी कथा दिखायी है? सम्भवतः पण्डितजीका आशय यह है कि ग्रन्थमें प्रधानतया अज-अगुण-अरूप-ब्रह्म श्रीरामजीकी कथा है, उसके अतिरिक्त इन तीनों अवतारोंका भी वर्णन इस ग्रन्थमें है; यह इन दो सोरठोंसे सूचित किया है। अज अगुण-अरूप ब्रह्मका अवतार गुप्त है, इससे उसे सोरठोंमें नहीं दिखाया। वेदान्तभूषणजीका मत आगे 'श्रीरामपरक' में देखिये।] (घ) 'गणेशजीके पश्चात् भगवान् विष्णुकी वन्दना इससे की कि इन दोनोंका स्वरूप एक ही है।'

सूर्यपरक होनेके कारण

(१) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि—(क) सोरठेमें किसीका नाम नहीं है। गुणक्रियाओंद्वारा नाम जाना जाता है पर यहाँ जो गुणक्रियाएँ दी हैं वे भगवान् और सूर्य दोनोंमें घटित होती हैं। विष्णुपरक माननेमें यह आपत्ति आती है कि एक तो आगे सोरठेमें विष्णुकी वन्दना है ही। दूसरे, यदि दोनों सोरठोंमें विष्णुकी वन्दना मानें तो क्रिया एक ही होनी चाहिये पर दोनोंमें अलग-अलग दो क्रियाएँ हैं। *'सो दयाल द्रवौ'* और *'करौ सो मम उर धाम।'* एक पदमें एक कर्मके साथ दो क्रियाएँ नहीं होतीं। तीसरे, यदि स्थानभेदसे यहाँ 'रमावैकुण्ठ' की और आगे 'क्षीरशायी श्रीमन्नारायण' की वन्दना मानें तो यह अड़चन पड़ती है कि श्रीगणेशजी और श्रीमहेशजीके बीचमें विष्णुकी वन्दना नहीं सुनी जाती। इनकी वन्दना या तो ब्रह्मा और शिवके बीचमें या पञ्चदेवोंके बीचमें सुनी है। (ख)—श्रीगोस्वामीजीने इस ग्रन्थको श्रीअवधमें प्रारम्भकर समाप्त किया। श्रीअवधवासियोंका मत साधन-सिद्ध दोनों अवस्थाओंमें पञ्चदेवकी उपासना (पूजन)

है। साधनदेशमें श्रीसीतारामजीकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध देशमें प्राप्त वस्तुको कायम (स्थिर) रखनेके लिये। यथा—*'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ राजा राम जानकी रानी'''''* (२। २७३) इसी तरह श्रीगोस्वामीजी पञ्चदेवकी स्तुतिकर श्रीसीताराम-यशगानकी शक्ति माँगते हैं। अतः सूर्यपरक सोरठा माननेसे पञ्चदेवकी पूर्ति तथा पञ्चदेवका मङ्गलाचरण हो जाता है। (ग) बालक जन्मसमय मूक और पङ्गु दोनों रहता है। सूर्यभगवान् अपने दिनोंसे इन दोनों दोषोंको दूर करते हैं। इनका सामर्थ्य आदित्यहृदय, वाल्मीकीय, महाभारत, विष्णुपुराण आदिमें स्पष्ट है। यथा—'**विस्फोटककुष्ठानि मण्डलानि विचर्चिका। ये चान्ये दुष्टरोगाश्च ज्वरातीसारकादयः॥ जपमानस्य नश्यन्ति'''''**।' (भविष्योत्तर आदित्यहृदय। वै०) अर्थात् चेचक, कोढ़, दाद, ज्वर, पेचिश आदि दुष्ट रोग जपसे नष्ट हो जाते हैं। '**एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः**।' (वाल्मी० ६। १०५) अर्थात् सूर्य ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, प्रजापति आदि हैं। '**सर्वरोगैर्विरहिताः सर्वपापविवर्जिताः। त्वद्भावभक्ताः सुखिनो भवन्ति चिरजीविनः॥**' (महाभारत वनपर्व ३। ६७) अर्थात् सूर्यके भक्त सब रोगोंसे रहित, पापोंसे मुक्त, सुखी और चिरजीवी होते हैं इत्यादि।

(२) विनयपत्रिकामें भी गणेशजीकी स्तुतिके पश्चात् सूर्यभगवान्‌की स्तुति की गयी है, जिसमें यहाँके सब विशेषण दिये गये हैं। यथा—*'दीन-दयालु दिवाकर देवा।''''' दहन दोष-दुख-दुरित-रुजाली।''''' सारथि-पंगु, दिव्य रथ-गामी। हरि-संकर-बिधि-मूरति-स्वामी॥'* (पद २) उस क्रमके अनुसार यहाँ भी सूर्यपरक सोरठा समझना चाहिये। विनयमें एवं वाल्मीकीय आदिमें सूर्यभगवान्‌को ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनोंका रूप माना है। इस तरह इनमें विष्णुभगवान्‌के ही नहीं, वरंच ब्रह्माजी और शिवजीके भी गुण आ गये। सूर्यपरक सोरठा लेनेसे अधिक सौष्ठव और श्रेष्ठता जान पड़ती है।

(३) '**मूकं करोति'''''**' को यदि विष्णुसम्बन्धी माना जाय तो इसके विशेषणोंको लेकर सूर्यकी वन्दना कविके करनेमें कोई दोष नहीं। क्योंकि विष्णु और सूर्यमें अत्यन्त घनिष्ठता है। दोनोंके नाम भी एक-दूसरेके बोधक हैं। वेदोंमें सूर्यको विष्णु कहा है। लोकमें भी सूर्यको 'नारायण' कहते हैं। विष्णुका भी व्यापक अर्थ है और सूर्यका भी तथा विष्णुका एक स्वरूप भास्कर भी है। (तु० प० भाष्य)

(४) सूर्यदेव रघुकुल-गुरु भी हैं। यथा—*'उदउ करहु जनि रबि रघुकुल गुरु।'* (२। ३७)। इनकी कृपासे श्रीरघुनाथजीके चरित जाननेमें सहायता मिलेगी। यथा—*'कुलरीति प्रीति समेत रबि कहि देत सबु'''''*।'(१। ३२३)

नोट— पं० रामकुमारजीके संस्कृत खर्रोंमें *'पंगु चढ़ै'* पर यह श्लोक है। '**रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि। रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥**'(भोजप्रबन्धे श्लोक १६८) अर्थात् जिनके रथमें एक ही चक्र है, सात घोड़े हैं, जो सर्पोंसे उसमें बँधे हुए हैं, जिनका मार्ग निराधार है और सारथी भी चरणरहित है। इतना होनेपर भी वे सूर्यभगवान् अगाध अपार आकाशको पूरा कर देते हैं। इससे यह सारांश निकलता है कि बड़ोंकी कार्यसिद्धि उनके बलपर रहती है न कि किसी साधनपर।

श्रीरामपरक होनेके कारण

वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि इस ग्रन्थमें श्रीरामजीके अवतारी (पर) रूपका वर्णन है और अवतारोंका भी। इस सोरठेमें अवतारी श्रीरामजीकी वन्दना है। प्रथम कारणस्वरूपकी वन्दना करके तब कार्यस्वरूपकी वन्दना की गयी। मूक वाचाल तब होता है जब उसकी जिह्वापर सरस्वतीका निवास होता है। यथा— *'मूक बदन जस सारद छाई।'* शारदाके स्वामी (नियन्ता) श्रीरामजी हैं। अतः बिना उनकी आज्ञाके सरस्वती प्रचुररूपसे किसी मूककी जिह्वापर नहीं जा सकतीं। पङ्गुको पर्वतपर चढ़नेकी शक्ति श्रीरामजी ही देते हैं। सम्पाती पङ्ख जलनेसे पङ्गु हो गया था। श्रीरामकृपासे ही उसके पङ्ख जमे, पङ्गुता नष्ट हुई। यथा, *'मोहि बिलोकि धरहु

मन थीरा। रामकृपा कस भयउ सरीरा॥' (४। २९) श्रीरामजी बिना कर्मफल भोगाये तथा बिना किसी प्रकारका प्रायश्चित्त कराये सम्मुखतामात्रसे समस्त *'कलिमल'* दहन कर देते हैं। यथा— *'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* (५। ४४) *कैसेउ पामर पातकी जेहि लई नामकी ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परख्यो न फेरि खर खोट।'* (विनय०)। यह स्वभाव श्रीरामजीका ही है, अन्यका नहीं। देखिये, जब नारदजीने क्षीरशायी भगवान्‌से कहा कि *'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे॥'* (१। १३८) तब उन्होंने यही कहा कि *'जपहु जाइ संकर सतनामा'।* श्रीरामजी सम्मुखप्राप्त जीवको कभी अन्यकी शरणमें जानेको नहीं कहते। अतः यह सोरठा सर्वतोभावेन श्रीरामजीके लिये है।

टिप्पणी—१ *'मूक होइ बाचाल·····'* इति। (क) मूक और पङ्गु होना पापका फल है। बिना पापके नाश हुए गूँगा बोल नहीं सकता और न पङ्गु पर्वतपर चढ़ सके। इसीसे आगे *'सकल कलिमलदहन'* विशेषण देते हैं। जिसमें यह सामर्थ्य है वही जब कृपा करे तब पापका नाश हो, अतः कहा कि *'सो दयाल द्रवौ।'* (ख) पर्वतकी दुर्गमता दिखानेके लिये वनसहित होना कहा। पाप मन, वचन, कर्म तीन प्रकारके होते हैं। यथा—*'जे पातक उपपातक अहहीं। कर्म बचन मन भव कबि कहहीं॥'* (२। १६७) *'मन क्रम बचन जनित अघ जाई।'* (७। १२६) *'सकल कलिमल'* से तीनों प्रकारके छोटे-बड़े सब पाप सूचित किये। (ग) मूकका वाचाल होना और पङ्गुका पर्वतपर चढ़ना भारी पुण्यका फल है। अतः *'मूक होइ·····जासु कृपा'* कहकर जनाया कि आपकी कृपासे पाप नाशको प्राप्त होते हैं और भारी पुण्य उदय होते हैं अर्थात् बड़े-बड़े पापी आपकी कृपासे पुण्यका फल भोगते हैं।

नोट—१ मूक और पङ्गु मन एवं बुद्धिकी असमर्थताके सूचक हैं। श्रीमद्गोस्वामीजी अपनेको श्रीरामचरित्रवर्णनमें मूक, पङ्गु और कलिमलग्रसित ठहराकर विनय करते हैं। यथा—*'निज बुधिबल भरोस मोहि नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं॥ करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥ सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।·····'* (१। ८) *'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़। किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमलग्रसितबिमूढ़॥'* (१। ३०) इस सोरठेमें इष्ट परोक्ष है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि जिस दयालुमें मूकको वाचाल, पङ्गुको गहन पर्वतपर चढ़ाने और सकल कलिमलोंके दहन करनेकी शक्ति है उससे अपना सम्बन्ध जानकर मैं विनती करता हूँ कि वह मुझे वक्ता, मेरी कविताको सबका सिरमौर (जिससे संसारभरमें इसका आदर हो) और मुझको निष्पाप करे। यहाँ 'परिकराङ्कुर अलङ्कार' है। यहाँ *'गिरिबर गहन'* क्या हैं? उत्तर—पं० रामकुमारजीके मतानुसार श्रीरामचरितका लिखना पहाड़ है। उसे लिखनेमें वाणीसे तो मूक हूँ और मेरी बुद्धि पङ्गु है। श्रीरामयशगानका सामर्थ्य हो जाना तथा रामचरितमानस ग्रन्थकी समाप्ति निर्विघ्न हो जाना उसका पर्वतपर चढ़ जाना है। बाबा हरिहरप्रसादजी हरियशको पर्वत और रामचरित कहने और रामचरित्रके पार जानेके सामर्थ्यको पर्वतपरका चढ़ जाना कहते हैं। और, बैजनाथजीका मत है कि वेद-पुराणादि पर्वत हैं अर्थात् वेद-पुराणादिमें रामचरित गुप्त है जैसे पर्वतपर मणिमाणिक्यकी खानें गुप्त हैं। यथा—*'पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥'* (७। १२०) वेदादिसे चरित्र निकालकर वर्णन करना पहाड़पर चढ़ना है।

नोट—२ *'सो दयाल द्रवौ'* अर्थात् मुझे रामचरित लिखनेका सामर्थ्य दीजिये।

नोट—३ दहन करना तो अग्निका कार्य है और द्रवना जलका धर्म है तब *'द्रवउ'* और *'कलिमलदहन'* का साथ कैसा? अग्नि और जल एकत्र कैसे? यह शङ्का उठाकर उसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—(क) जलमें दोनों गुण हैं। 'दाहक' धर्म भी है। पाला भी जल है पर फसलपर पड़ता है तो उसे जला डालता है। खेती मारी जाती है। कमलको झुलसा डालता है। यथा—*'सिअरें बचन सूखि गए कैसें। परसत तुहिन तामरसु जैसें॥'* (२। ७१) इस प्रकार जलमें भी दाहक शक्ति है। काष्ठजिह्वा स्वामीजी लिखते हैं कि 'महाभारतके **'कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च'** इस श्लोकमें शिशि अग्निका नाम प्रसिद्ध है'। (रा० प्र०)

पुनः (ख) वेदान्तानुसार प्रत्येक स्थूलभूतमें शेष चार भूतोंके अंश भी वर्तमान रहते हैं। भूतोंको यह स्थूल स्थिति पञ्चीकरणद्वारा होती है जो इस प्रकार होता है। पहले पञ्चभूतोंको दो बराबर भागोंमें विभक्तकर फिर प्रत्येकके प्रथमार्धके चार-चार भागकर जो बीस भाग हुए उनको अलग रखा। अन्तमें एक-एक भूतके द्वितीयार्द्धमें इन बीस भागोंमेंसे चार-चार भाग फिरसे इस प्रकार रखे कि जिस भूतका द्वितीयार्द्ध हो उसके अतिरिक्त शेष चार भूतोंका एक-एक भाग उसमें आ जाय। इस प्रकार जलमें अष्टम अंश अग्निका रहता ही है। (ग) श्रीमान् गौड़जी यहाँ दोनों शब्दोंकी सङ्गतिके विषयमें यह भाव कहते हैं कि जिस वस्तुको नष्ट करना होता है उसके लिये उनका प्रचण्ड प्रताप दाहक है। कलिमलको जलाकर नष्ट कर डालनेमें ही हमारा कल्याण है। परन्तु आपका हृदय जो नाश करनेके लिये वज्रसे भी अधिक कठोर है **'वज्रादपि कठोराणि'** वह आपके उसी प्रचण्ड तापसे हमारे कल्याणके लिये 'द्रव' कर कोमल हो जाय। यह भाव है। अतः 'दहन' और 'द्रवण' असङ्गत नहीं हैं।

नोट—४ कोई-कोई महानुभाव इस सोरठेके पूर्वार्द्धका अर्थ यह भी करते हैं कि (अर्थ—२) 'जिनकी कृपासे (जीव) मूक होते हैं, वक्ता होते हैं, पङ्गु होते हैं और बड़े गम्भीर पर्वतोंपर चढ़ते हैं।' और इसके भाव यह कहते हैं कि—(क) मूक चार प्रकारके हैं। (१) वचनमूक जैसे ज्ञानदेवजीने भैंसेसे वेद पढ़वाया। (भक्तिरसबोधिनीटीका क० १७९) (२) बधिरमूक वा अज्ञानमूक जैसे ध्रुवजी और प्रह्लादजी। (३) धर्ममूक जो किसी कार्यके निमित्त किसीसे कुछ कहनेका अवसर पाकर भी किसीसे धर्मविचारसे कुछ न कह सके। (४) ज्ञानमूक जैसे जडभरतजी, दत्तात्रेयजी जो परमार्थके तत्त्वोंको प्राप्त करके मौन ही हो गये। इसी तरह—(ख) पङ्गु भी तीन प्रकारके हैं। (१) स्थूलपङ्गु जैसे 'अरुण' जो सूर्यके सारथी हैं और 'गरुड़जीके पङ्ख' जिन्हें सूर्यने सामवेद पढ़ाया कि भगवान्की सवारीमें उनको सामवेद सुनाते रहें। कोई महात्मा गरुड़पक्षको 'नियत मूक' कहते हैं। (मा० प्र०) (२) कर्मपङ्गु जैसे श्रीशवरीजी और श्रीजटायुजी एवं कोलभील। (३) सुमतिपङ्गु। जिनकी बुद्धि श्रीरामपरत्वमें कुण्ठित हो गयी है वे कूटस्थ क्षेत्रज्ञभावको प्राप्त होते हैं। (ग) अर्थ २ में *'होहि'* को मूक, पङ्गु और वाचाल तीनोंके साथ माना गया है। मूक होते हैं अर्थात् निन्दादि वार्ता छोड़ देते हैं। वाचाल होते हैं अर्थात् भगवन्नामयशादि-कीर्त्तन करने लगते हैं। पङ्गु होते हैं अर्थात् इधर-उधर कुत्सित स्थानोंमें जाना छोड़ देते हैं। गम्भीर पर्वतोंपर चढ़ते हैं अर्थात् राज्य-सम्पत्ति छोड़ वनों और पर्वतोंपर जाकर भजन करते हैं। (घ) (अर्थ—३) वाचाल (कुत्सित बोलनेवाले) मूक होते हैं (कुत्सित बोलना छोड़ देते हैं) और गिरिवरगहनपर जो चढ़ा करते हैं (चोर-डाकू आदि) वे पङ्गु होते हैं अर्थात् दुष्ट कर्म छोड़ देते हैं। (ङ) अर्थ २ और ३ क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं। (रा० प्र०)

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम, सदा छीरसागर सयन॥ ३॥

शब्दार्थ—**सरोरुह (सर+रुह=सरसे उत्पन्न)**=कमल (योगरूढ़ि)। **स्याम (श्याम)**=श्याम साँवला वर्ण। **तरुन** (तरुण)=युवा अवस्थाका अर्थात् तुरन्तहीका पूरा खिला हुआ। **अरुन (अरुण)**=लाल। श्रीसंतसिंह पंजाबीजी लिखते हैं कि **'अरुणो व्यक्तरागः स्यादिति विश्वकोषे'** के प्रमाणसे यहाँ अरुणताका भाव लेना चाहिये। अर्थात् अरुणता उस ललाईको कहते हैं जो प्रकट न हो; नेत्रोंमें किनारे-किनारे लाल डोरोंके सदृश जो ललाई होती है। **बारिज** (वारि+ज=जलसे उत्पन्न)=कमल (योगरूढ़ि)। **उर**=हृदय। **छीरसागर** (क्षीरसागर)=दूधका समुद्र। यह सप्त प्रधान समुद्रोंमेंसे एक माना जाता है। इसमें भगवान् श्रीमन्नारायण शयन करते हैं। **सयन** (शयन)=सोनेवाले।

अर्थ—(जिनका) नील कमल-समान श्याम (वर्ण है), नवीन पूरे खिले हुए लाल कमल-समान नेत्र हैं और जो सदा क्षीरसागरमें शयन करते हैं, वे (भगवान्) मेरे हृदयमें 'धाम' करें॥ ३॥

नोट—१ *'नील सरोरुह स्याम'* इति। नील कमल-समान श्याम कहनेका भाव कि (क) कमल कोमल

और आर्द्र होता है वैसे ही प्रभु करुणायुक्त मृदुलमूर्त्ति हैं। यथा—'*करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥*' (२। ८५) '*बारबार मृदुमूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥*' (२। ६७) '*मृदुल मनोहर सुंदर गाता।*' (४। १) (ख) श्याम रंग, श्यामस्वरूप भगवान्‌के अच्युत भावका द्योतक है। इस रंगपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, यह सदा एकरस बना रहता है, वैसे ही भगवान् शरणागतपर एकरस प्रेम रखते हैं, चूक होनेपर भी शरणागतको फिर नहीं त्यागते।

नोट—२ '*तरुन अरुन बारिज नयन*' इति। (क) तरुणसे युवावस्थाका रूप सूचित किया। पुनः, '*तरुन*' '*बारिज*' का भी विशेषण है। अर्थात् पूर्ण खिले हुए कमलके समान। नेत्रोंकी उपमा कमलदलसे दी जाती है। नेत्र कमलदलके समान लम्बे हैं, कर्णपर्यन्त लम्बे हैं। यथा—'*अरुन-कंजदल-लोचन सदा दास अनुकूल॥*' (गीतावली ७। २१) '**कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्।**' (स्तवपञ्चक) पुनः 'तरुण' कहकर जनाया कि भक्तोंके दुःख हरण करनेमें आपको किञ्चित् भी आलस्य कभी नहीं होता। क्योंकि युवावस्थामें आलस्य नहीं होता। (ख) '*अरुण*' इति। नेत्रोंकी अरुणता राजस गुणका द्योतक है और योगनिद्रासे जगे हुए महापुरुषके भक्तभयहारी भावको दर्शित कर रहा है। (देवतीर्थस्वामी) '*अरुण*' से जनाया कि ऊपर, नीचे और कोनोंमें लाल-लाल डोरे पड़े हुए हैं; यह नेत्रोंकी शोभा है। पूरा नेत्र लाल नहीं होता। यह ललाई दुःखहरण स्वभावका द्योतक है।

नोट—३ '*करौ सो मम उर धाम*' इति। 'धाम' का अर्थ 'घर', 'स्थान', 'पुण्यतीर्थस्थल', 'तेज', 'प्रकाश' इत्यादि है। मेरे हृदयमें घर बनाइये, मेरे हृदयको पुण्यतीर्थ कर दीजिये, मेरे हृदयमें प्रकाश कीजिये; ये सब भाव '*करौ धाम*' में हैं। एवं 'धाम करो' अर्थात् घर बनाकर निवास कीजिये। विशेष आगे शङ्का-समाधानमें देखिये।

टिप्पणी—१ '*सदा छीर सागर सयन*' इति। (क) '*छीरसागर सयन*' कहकर 'श्रीसीता-राम-लक्ष्मण' तीनोंको उरमें बसाया। पयपयोधिमें श्रीलक्ष्मीजी, श्रीमन्नारायण और शेष तीनों श्रीसीता-राम-लक्ष्मणजी ही हैं। यथा— '*पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखन रामु रहे आई॥*' (२। १३९) (पं० रामकुमारजी)

(ख) हरिको हृदयमें बसाया जिससे हृदयमें प्रेरणा करें। यथा—'*जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें। तसि कहिहौं हिय हरिके प्रेरें॥*' (१। ३१) (पं० रामकुमारजी) [क्षीरशायी भगवान् श्रीरामजीके नामरूप-लीलाधामका परत्व यथार्थ जानते हैं। वे स्वयं भी श्रीरामावतार ग्रहणकर श्रीरामजीकी लीला किया करते हैं, अतः वे श्रीरामचरित भलीभाँति जानते हैं। हृदयमें बसेंगे तो यथार्थ चरित कहला लेंगे। (वन्दन पाठकजी) नोट ८ पृष्ठ ६६ भी देखिये।

(ग) भगवान् विष्णुके स्वरूपको व्यासजीने ऐसा वर्णन किया है, '**शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्। लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥**' इस स्वरूपवर्णनमें '**कमलनयनम्, गगनसदृशम्, मेघवर्णम्**' कहे और बड़ाईके विशेषण दिये हैं। '*नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन*' कहकर फिर '*छीरसागर सयन*' कहनेसे ही 'भुजगशयन, लक्ष्मीकान्त, पद्मनाभ आदि सभी विशेषणोंका ग्रहण हुआ। (पं० रामकुमारजी)

(घ) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यह लोकरीति है कि राजाके शयनागारमें बाहरके लोगोंका तो कहना ही क्या, घरके भी लोग इने-गिने ही जाने पाते हैं। यहाँ काम-क्रोधादि बाहरके लोग हैं और अपने लोगोंमें शुष्क ज्ञान और वैराग्य हैं जो भीतर नहीं जाने पाते। यह भी सूचित किया कि भक्ति सदा पास रहनेवाली है।

(ङ) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि दुर्वासा ऋषिके कोपसे श्रीलक्ष्मीजी क्षीरसागरमें लुप्त हो गयी थीं; वैसे ही कलियुगरूपी दुर्वासाके कोपसे भक्तिरूपी लक्ष्मी लुप्त हो गयी हैं। क्षीरसमुद्र मथनेपर लक्ष्मीजी प्रकट हुईं। वैसे ही आप मेरे हृदयरूपी क्षीरसागरको मथन कराके जगत्‌के उद्धारहेतु श्रीरामभक्तिको प्रकट कराइये। यह भाव क्षीरसागर-शयनसे धाम करनेकी प्रार्थनाका है। यहाँ हृदय क्षीरसागर है, विवेकादि

देवता और अविवेकादि दैत्य हैं, मनोरथ मन्दराचलरूपी मथानी है, विचार वासुकीरूपी रस्सी है, प्रभुकी कृपासे काव्यरूप चौदह रत्न प्रकट होंगे। मोह कालकूट है जिसे नारदरूपी शिव पान करेंगे, नरनाट्य वारुणी है जिसे अविवेकी दैत्य पानकर मतवाले हुए, श्रीरामरूप अमृत है जिसे पाकर सन्तरूपी सुर पुष्ट हुए, हरियश अश्व है जो विवेकरूपी सूर्यको मिला, माधुर्य्य लीला सबको मोहित करनेवाली अप्सरा है। इसी तरह धर्म ऐरावत, रामनाम कल्पवृक्ष, ऐश्वर्यके चरित कामधेनु, धाम चन्द्रमा, सुकर्म धन्वन्तरि, अनुराग शङ्ख, कीर्त्तिमणि, श्रीरामराज्यमें जो प्रताप है वही धनुष है। काकभुशुण्डिप्रसङ्गमें जब भक्तिरूपिणी लक्ष्मी प्रकट हुईं तब सब जगका पालन हुआ। इत्यादि कारणोंसे *'क्षीरसागर शयन'* कहकर हृदयमें धाम करनेको कहा।

(च) क्षीरसागर शुद्ध धर्म (सद्धर्म) का स्वरूप है, अतः वैसा ही धाम बनानेको कहा। (रा० प०)

(छ) आप ऐसे समर्थ हैं कि आपने जलमें धाम बनाया है जो सर्वथा असम्भव कार्य है। यथा, *'चहत बारिपर भीति उठावा।'* और इतना ही नहीं वरंच शेषशय्यापर आपका निवास है। आपके सङ्गसे विषधर सर्प भी निरन्तर प्रभुका यश गान करते हैं। मेरे हृदयरूपी समुद्रमें कामादि सर्प हैं। आप हृदयमें बसेंगे तो आपकी कृपासे वह भी श्रीरामयशगानमें समर्थ हो जायगा।

नोट—४ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'कहा जाता है कि सोरठा २ और ३ में यह गूढ़ आशय भरा है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर अवतरे और तीनों गुणोंके अनुसार गोस्वामीजीने यहाँ तीन विशेषण दे तीन ही बातें अपने लिये माँगी हैं। वह इस तरह कि *'छीरसागर सयन'* को सतोगुणरूप मान उनसे *'मूक होइ बाचाल'* यह सतोगुणी वृत्ति माँगी। *'तरुण अरुण बारिज नयन'* से रजोगुणीरूपी मान उनसे *'पंगु चढ़ै गिरिबर गहन'* यह रजोगुणरूपी वृत्ति माँगी। और, *'नील सरोरुह स्याम'* से तमोगुणवाले समझ *'कलिमलदहन'* करनेकी प्रार्थना की।' [इससे सूचित होता है कि इस भावके समर्थक दोनों सोरठोंको वे क्षीरशायीपरक मानते हैं।]

शंका—श्रीमद्गोस्वामीजी तो श्रीरामजीके अनन्य उपासक हैं। यथा—*'का बरनौं छबि आजकी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लो हाथ॥'* उन्होंने प्रायः सर्वत्र श्रीरामजीको ही हृदयमें बसनेकी प्रार्थना की है। यथा, *'मम हृदय कंज निवास करु, कामादि खल-दल-गंजनं।'* (विनय० ४५) *'बसहिं रामसिय मानस मोरे।'* (विनय० १) *'माधुरी-बिलास-हास, गावत जस तुलसिदास, बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रानकी॥'* (गीतावली २। ४४) इत्यादि। तो यहाँ क्षीरशायी भगवान्‌को बसनेको कैसे कहा?

समाधान—(१) गौड़जी—त्रिपाद विभूतिके भगवान् द्विभुजी सीतारामलक्ष्मण प्रत्येक एकपाद विभूतिवाले विश्वकी रचनामें श्रीमन्नारायण, लक्ष्मी और शेषका रूप धारण करते हैं। विश्वकी रचनाके लिये अनन्त देश और अनन्तकालमें विस्तीर्ण उज्ज्वल क्षीरसागरमें विराजते हैं। यह नारायणावतार है जिसे महाविष्णु भी कहते हैं। गोस्वामीजी यहाँ सोरठेके पहले आधेमें अपने प्रभु रामकी ही वन्दना करते हैं जो *'नील सरोरुह स्याम'* हैं, जिनके *'तरुण अरुण बारिज नयन'* हैं, जो (एकपाद विभूतिमें 'धाम' करनेको क्षीरसागरमें शयन करते हैं और इस अनन्त उज्ज्वलता और अनन्त विस्तारमें ही 'सदा' शयन करते हैं, इससे कममें नहीं।) आप समर्थ हैं। मेरे हृदयमें विराजनेके लिये उसके अन्धकारको दूरकर अनन्त उज्ज्वलता प्रदान कीजिये और उसकी छुटाई और संकोचको दूर करके उसे अनन्त विस्तार दीजिये कि आप उसमें समा सकें। *'अर्जो समा कहाँ तेरी वसअतको पा सके। मेरा ही दिल है वो कि जहाँ तू समा सके॥'* 'क्षीरसागर-शयन' से लोग चतुर्भुजी रूपके ध्यानकी बात जो कहते हैं, वह किसी तरह ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि 'क्षीरसागरशयन' से ध्वनि बहुत-सी निकलती है, जैसे नारायणका चतुर्भुजरूप, शेषपर शयन, नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति इत्यादि-इत्यादि, तथापि ध्वनि भी शब्दोंसे नितान्त असम्बद्ध नहीं होती। क्षीरसागरशयन कहा; शेषशय्याशयन नहीं कहा, जो कि अनुप्रासकी दृष्टिसे भी सुन्दर होता और अधिक ठीक होता क्योंकि भगवान् तो क्षीरसागरमें नहीं वरन् शेषशय्यापर सोते हैं। यदि यह कहो कि गङ्गाघोषकी तरह यहाँ क्षीरसागरशयन

भी है तो यह तब ठीक होता जब शेषको व्यक्त करना प्रयोजनीय होता। 'क्षीरसागर' कहना अवश्य प्रयोजनीय है। वह प्रयोजन अनन्त उज्ज्वलता और अनन्त विस्तार है। चतुर्भुजता नहीं है। हृदयको उज्ज्वल और उदार बनाना इष्ट है। 'चतुर्भुज' की कल्पनासे क्या प्रयोजन सधेगा? साथ ही गोस्वामीजी महाविष्णुको रामजीका अवतार होना भी यहाँ इंगित करते हैं और नारायण तथा राममें अभेद दिखाते हैं।

(२) टिप्पणी (१) देखिये और भी समाधान टीकाकारोंने किये हैं।

(३) हमारा हृदय कलिमलग्रसित है, जबतक स्वच्छ न होगा। श्रीसीतारामजी और उनके चरित्र उसमें वास न करेंगे। यथा—*'हरि निरमल, मलग्रसित हृदय, असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवत॥'* (वि० १८५) श्रीमन्नारायणके निवास करनेसे यह भी क्षीरसागरके समान स्वच्छ हो जावेगा, इसलिये प्रार्थना है कि वास कीजिये। अथवा, क्षीरसमुद्रके सदृश हमारे हृदयमें स्वच्छ और पवित्र घर बना दीजिये जिसमें श्रीसीतारामजी आकर नित्य वास करें। अवध धाम अथवा घर बनानेको कहा है, बसनेको नहीं। (वन्दनपाठकजी)

(४) अगस्त्यसंहिता, वसिष्ठसंहिता, रामतापनी-उपनिषद् और सुन्दरी तन्त्रादि ग्रन्थोंमें क्षीरशायी भगवान्‌को पीठदेवता कहा है। ऐसा मानकर इनको प्रथम वास दिया। पीठदेवताका प्रथम पूजन सर्वसम्मत है, पीछे प्रधानपूजन होता है। (रा० प्र०)

(५) यह लोकरीति है कि जहाँ सरकारी पड़ाव पड़नेको होता है वहाँ परिकर प्रथम जाकर डेरा डालते हैं, सफाई कराते हैं, तत्पश्चात् सरकारकी सवारी आकर वहाँ निवास करती है। वही रीति यहाँ भी समझ लें। इत्यादि।

नोट—५ 'श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन देनेको जब प्रभु प्रकट हुए तब *'नील सरोरुह नीलमनि नील-नीरधर स्याम।'* (१। १४६) ये तीन उपमाएँ श्याम छबिकी दी गयी हैं। श्रीमन्नारायणको इसमेंसे एक अर्थात् 'नीलसरोरुह' हीकी उपमा क्यों दी?' यह शंका उठाकर उसके समाधानमें श्रीरामगुलामजी द्विवेदी कहते हैं कि कैवल्यके अन्तर्गत महाकारण और कारण-शरीरोंकी जहाँ उपनिषदोंमें व्याख्या है वहाँ कारणकी उपमा नील कमलसे दी है। कमलहीसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है और उनसे जगत्‌की। महाकारण शरीरके लिये *'नीलमणि'* की उपमा सार्थक है एवं कैवल्यके लिये *'नीलनीरधर'* की। सगुण ब्रह्मके प्रतिपादनमें इन तीनों सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीरोंकी प्रधानता है। श्रीरामभद्रके परस्वरूपमें तीनोंका समावेश है और श्रीमन्नारायणमें दोका परोक्ष भावसे ग्रहण होता है और कारणका प्रत्यक्ष भावसे। क्योंकि वे जगत्‌के प्रत्यक्ष कारणस्वरूप हैं'। (तु० प०)

नोट—६ *'नील सरोरुह'* उपमान है, *'श्यामता'* धर्म है, वाचक और उपमेय यहाँ लुप्त हैं; इससे 'वाचकोपमेयलुप्तोपमा अलंकार' हुआ। तरुण अरुण-धर्म है, वारिज उपमान है, नयन उपमेय है, वाचक नहीं है; इससे इसमें 'वाचकलुप्तोपमा अलंकार' हुआ। गुण और निवासस्थान कहकर क्षीरशायी विष्णुका परिचय कराना किन्तु नाम न लेना 'प्रथम पर्य्यायोक्ति अलंकार' है।

नोट—७ (क) श्रीनंगे परमहंसजी—'सोरठा २ में एकपादविभूतिस्थ त्रिदेवान्तर्गत रमावैकुण्ठनाथ विष्णुकी वन्दना है जिनका पालन करना कार्य है। इस वैकुण्ठमें ब्रह्मादि देवताओंका भी आना-जाना होता है और सोरठा ३ में क्षीरशायी विष्णुकी वन्दना है जो गुणातीत तथा अनेक ब्रह्माण्डोंके नायक हैं। त्रिदेवगत विष्णुभगवान्‌की वन्दनामें तो और देवताओंकी भाँति *'द्रवउ'* अर्थात् कृपा करनेकी ही प्रार्थना की है जैसे गणेशजीसे *'करौ अनुग्रह'* और भगवान् शिवसे *'करहु कृपा'* मात्र ही विज्ञापन है। और परमप्रभु क्षीरशायीको अपने उरमें धाम बना लेनेकी प्रार्थना की है। त्रिपादविभूतिस्थ क्षीरशायी ही एकरूपसे एकपादविभूतिस्थ क्षीरसागरमें भी रहते हैं, दोनों एक ही हैं।'

(ख) प्रश्न—त्रिदेवगत विष्णु और क्षीरशायी विष्णुकी अलग-अलग वन्दना क्यों की?

उत्तर—'त्रिदेवविष्णु भी पूज्यदेव और पालनके अधिष्ठाता ब्राह्माण्डके नायक हैं। जब सब देवताओंकी

वन्दना हुई है तब इनकी भी होनी आवश्यक थी और इस एक सोरठेको छोड़ और कहीं इनकी वन्दना है भी नहीं। अतः सब देवोंकी भाँति इनसे भी दया चाही गयी है। परन्तु क्षीरशायी सरकार तो अवतारी-अवतार-अभेदतासे अपने इष्ट ही हैं। इसीसे उन्हें वन्दना करके अपने हृदयमें धाम ही बनानेकी भिक्षा माँगते हैं।' (श्रीनंगे परमहंसजी)

नोट—८ मानसमयंककारका मत है कि मानसमें स्थानभेदसे दोनोंके अधिष्ठाता वैकुण्ठाधिपति विष्णु और क्षीरशायी विष्णुका अवतार वर्णन किया गया है। परमेश्वर एक ही हैं, स्थान अनेक हैं। इस हेतु दोनोंकी वन्दना की। परतम श्रीरामचन्द्रजी कारण हैं और श्रीमन्नारायण कार्य हैं। ये श्रीरामचन्द्रजीके चरितको यथार्थ जानते हैं। यथा—'परो नारायणो देवोऽवतारी परकारणम्। यथार्थं सोऽपि जानाति तत्त्वं राघवसीतयोः॥' वे हृदयमें निवास करेंगे तो उनकी प्रेरणासे मेरे हृदयसे रामचरितमानसका यथार्थ कथन होगा।

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करौ कृपा मर्दन-मयन॥ ४॥

शब्दार्थ—कुंद=कुन्दका फूल। कुन्द जुहीकी तरहका एक पौधा है जिसमें श्वेत फूल होता है। यह कुआरसे चैततक फूलता रहता है। इसका फूल उज्ज्वल, कोमल और सुगन्धित होता है। इंदु=चन्द्रमा। सम=समान, सदृश, सरीखा। उमारमन=उमारमण=पार्वतीपति=शिवजी। करुना (करुणा)=मनका वह विकार जो दूसरेका दुःख देखकर वा जानकर उत्पन्न होता है और उसके दुःखके दूर करनेकी प्रेरणा करता है। यथा—'दुःखदुःखित्वमार्त्तानां सततं रक्षणात्वरा। परदुःखानुसन्धानाद्विह्वली भवनं विभोः॥', 'कारुण्याख्यगुणो ह्येष आर्त्तानां भीतिवारकः।', 'आश्रितार्त्याग्निना हेम्नो रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्भवेत्।' (भगवद्गुणदर्पणभाष्य) अयन=घर, स्थान। नेह=स्नेह, प्रेम। मर्दन=नाश करनेवाले। मयन=कामदेव।

अर्थ—कुन्दपुष्प और चन्द्रमाके समान (गौर) शरीरवाले, करुणाके धाम, जिनका दीनोंपर स्नेह है, कामको भस्म करनेवाले (उसका मान-मर्दन करनेवाले) और उमामें रमण करनेवाले (श्रीशिवजी)! मुझपर कृपा कीजिये॥ ४॥

नोट—१ इस सोरठेमें साधारणतया श्रीशिवजीकी वन्दना है। पं. रामकुमारजी एवं नंगे परमहंसजी इसमें शिवजीकी ही वन्दना मानते हैं। पंजाबीजी, बैजनाथजी और रामायणपरिचर्य्याका भी यही मत है। श्रीकरुणासिन्धुजी, पं० शिवलाल पाठकजी, बाबा श्रीजानकीदासजी (मानस-परिचारिकाके कर्त्ता) आदि महात्माओंको सम्मतिमें इस सोरठेमें ध्वनि-अलङ्कारसे श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीकी अर्थात् 'शक्तिविशिष्ट शिव' की वन्दना पायी जाती है। भगवान् शङ्कर अर्द्धनारीश्वर हैं। अर्थात् उमाजी श्रीशिवजीकी अर्धाङ्गिनी हैं और एक ही अङ्ग (वामभाग) में विराजती हैं। अतएव *'उमारमन'* कहकर *'उमा'* और *'उमारमण'* दोनोंका बोध कराया है और एक ही सोरठेमें दोनोंकी वन्दना करके विलक्षणता दिखायी है।

नोट—२ *'कुंद इंदु सम देह'* इति। (क) यहाँ गौर वर्णकी दो उपमाएँ देकर दोनोंके पृथक्-पृथक् गुण शिवजीके शरीरमें एकत्र दिखाये। इन दो विशेषणोंको देकर शरीरकी विशेष गौराङ्गता दर्शाते हुए उसका कुन्दसमान कोमल और सुगन्धित होना और चन्द्रमासमान स्वच्छ, प्रकाशमान, तापहारक और आह्लादकारक होना भी साथ-ही-साथ सूचित किया है। ये विशेषण शिवजीके लिये अन्यत्र भी एक साथ आये हैं। यथा—*'कुंद इंदु दर गौर सरीरा।'* (१। १०६), 'कुंदइंदुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।' (७। मं० श्लो० ३), *'कंबु-कुंदेंदु-कर्पूर-विग्रह रुचिर'* (विनय० १०) इत्यादि। (ख) ये दोनों उपमाएँ साभिप्राय हैं। ग्रन्थकार चाहते हैं कि हमारा हृदय कुन्दसमान कोमल और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान हो जावे। (पंजाबीजी)

(ग) कुदि धातुका अर्थ उद्धार है और इदि धातुका अर्थ परम ऐश्वर्य है। ये दोनों भाव दरसानेके लिये दो दृष्टान्त दिये। (काष्ठजिह्वा स्वामी) (घ) कुन्दकी कोमलता और उज्ज्वलता तो शरीरमें प्रकट देख

पड़ती ही है, सुगन्धता अङ्गमें भी है और कीर्त्तिरूप हो देश-देशमें प्रकट है, फैली हुई है। चन्द्रमा उज्ज्वल, अमृतस्रावी और औषधिपोषक है। श्रीशिवजीके अङ्गमें ये गुण कैसे कहे? इस तरह कि श्रीरामचरितामृतकी वर्षा जो आपके मुखारविन्दसे हुई यही चन्द्रमाका अमृतस्राव गुण है। मुख चन्द्रमा है। यथा—*'नाथ तवानन ससि स्त्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥'* (७। ५२) श्रीरघुनाथजीके उपासक औषधिरूप हैं, उनको भक्तिमें दृढ़ करना औषधिका पोषण करना है। (रा० प्र०) (ङ) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'उज्ज्वलतामें छः भेद हैं। तमोगुणरहित निर्मलता, कुज्ञानरहित स्वच्छता, रजोगुणरहित शुद्धता, भक्ष्याभक्ष्यरहित सुख, अजरादि चेष्टारहित देदीप्यमान, सदा स्वतन्त्र इत्यादि' *'परसे परस न जानिये'* यही कोमलता है। सदा दया चन्द्रमाकी शीतलता है, सबको सुखदाता होना यह चन्द्रमाकी आह्लादकता है, कृपा अमृत है, जीवमात्र औषधि हैं, जिनका आप पोषण करते हैं। प्रकाश प्रसिद्ध है। ये सब गुण निर्हेतु परस्वार्थके लिये हैं; अतः मुझपर भी निर्हेतु कृपा करेंगे।

नोट—३ *'कुंद इंदु'* को शिवजीके विशेषण मानकर ये भाव कहे गये। यदि इस सोरठेमें श्रीउमाजी और श्रीशिवजी दोनोंको वन्दना मानें तो इन विशेषणोंके भाव ये होंगे।—(क) शुद्धार्त्त जिज्ञासारूपा भवानीकी छटा कुन्दपुष्पके सदृश सुकोमल, सरस और सुरभित (विनयान्वित) है और शुद्धबोधमय भगवान् शङ्करकी छबि चन्द्रवत् प्रकाशमान शीतल और अमृतमय अखण्ड एकरस है, क्योंकि 'उमा' नाम शुद्धार्त्त जिज्ञासाका भी है। उस शुद्ध सात्त्विक मनको देवदेवने अपने उपदेशसे श्रीरामचरितमें रमाया है, उसे 'परमतत्त्व' का बोध कराया है। (तु० प०) (ख) कुन्द और इन्दुमें सनातन प्रणय-सम्बन्ध है और श्रीशिव-पार्वतीजीका चरित प्रणयरससे पूर्ण है। अतः यह उक्ति वा उपमा सार्थवती होती है। (तु० प०) (ग) पीत कुन्दके समान 'कोमल, सुगन्ध मकरन्दमय उमाजीका शरीर है।' 'श्वेत प्रकाश अमृतमय उमारमनका तन है।' (मा० प्र०)

'उमारमन' इति।

पं० रामवल्लभाशरणजी—*'उमारमन'* विशेषण देकर कविने अभिन्नताभावको गर्भित करते हुए उनमें शक्तिकी विशिष्टताको स्वीकार किया है। इस तरह इसमें ब्रह्मविशिष्टरूपसे शक्तिकी भी वन्दना हो गयी।

श्रीजहाँगीरअली शाह औलिया—'अर्द्धाङ्ग भवानी शङ्करकी छबि भक्ति-ज्ञानकी जोड़ी है।' अर्थात् यहाँ ज्ञान और भक्तिका एकीकरण दिखाया है।

गौड़जी—*'उमारमन'* में विशेष प्रयोजन है। उमा महाविद्या हैं। यथा—श्रुति **'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हैमवतीं ता ँ होवाच किमेतद्यक्षमिति॥'** (केन० ३। १२) **'सा ब्रह्मेति होवाच।'** (केन० ४। १) उमा महाविद्या ही ब्रह्मविद्या है। वही ब्रह्मज्ञान देती हैं। उमा-महेश्वर-संवादसे ही श्रीरामचरित प्राप्त हुआ है। भगवान् शङ्कर उसी महाविद्यामें रममाण हैं। कविका अभिप्राय यही है कि आप उमामें प्रीति करते हैं, अवश्य ही मुझे रामकथा कहनेकी शक्ति प्राप्त होगी। और कथाकी प्राप्ति उमाद्वारा हुई भी है। पहले उमा बालक रामबोलाको भोजन करा जाती थीं। उन्हींकी प्रेरणासे भगवान् शङ्करने रामबोलाका पालन ही नहीं कराया, वरन् गुरुके द्वारा रामचरितमानस भी दिया। इसीसे तो *'उमारमन'*, *'करुनाअयन'* भी हैं। करुणा करके अहैतुक ही रामबोलाको जगत्प्रसिद्ध कवि तुलसीदास बना डाला। 'दीनपर ऐसा नेह' है।

नोट—४ (क) उमारमण (पार्वतीजीके पति) कहनेका भाव कि पार्वतीजी करुणारूपा हैं इसीसे उन्होंने प्रश्न करके विश्वोपकारिणी कथा प्रकट करायी। आप उनके पति हैं अतएव *'करुनाअयन'* हुआ ही चाहें। सब जीवोंपर करुणा करके रामचरित प्रकट किया, इसीसे शिवजीको *'करुनाअयन'* कहा। (बै०, रा० प्र०) *'करुनाअयन'* यथा—*'पान कियो बिषु, भूषन भो, करुनावरुनालय साईं-हियो है॥'* (क० ७। १५७) वीरमणिका सङ्कट देख उसकी ओरसे शत्रुघ्नजीसे लड़े, वाणासुरके कारण श्रीकृष्णजीसे लड़े इत्यादि *'करुनाअयन'*

के उदाहरण हैं। (वै०) (ख) *'दीन पर नेह'* यथा—*'सकत न देखि दीन करजोरें॥'* (विनय० ६) काशीके जीवोंको रामनामका अन्तकालमें उपदेश देकर मुक्त कर देते हैं, देवताओंको दीन देखकर त्रिपुरका नाश किया; इत्यादि इसके उदाहरण हैं। (ग) *'दीन पर नेह'* कहकर कवि शिवजीसे अपना नाता 'दीनता' से लगाते हैं। (खर्रा) भाव कि मैं भी दीन हूँ, अतएव आपकी कृपाका अधिकारी हूँ, मुझपर भी कृपा कीजिये। (घ) *'मर्दनमयन'* इति। जैसे कलिमलदहनके लिये सूर्य या विष्णुभगवान्‌की वन्दना की और हृदयकी स्वच्छताके लिये *'छीरसागर सयन'* की वन्दना की; वैसे ही यहाँ कामके निवारणार्थ *'मर्दनमयन'* शिवजीकी वन्दना की है। जबतक काम हृदयमें रहता है तबतक भगवत्-चरितमें मन नहीं लगता और न सुख ही होता है। यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बयें फल जथा॥'* (५। ५८)

टिप्पणी—१ (क) यहाँके सब विशेषण (*'उमारमन'*, *'करुनाअयन'*, *'जाहि दीनपर नेह'* और *'मर्दनमयन'*) चरितात्मक हैं। मयनका भस्म करना, रतिकी दीनतापर करुणा करके उसको वर देना, देवताओंपर करुणा करके उमाजीको विवाहना, फिर उमाजीपर करुणा करके उनको रामचरित सुनाना, यह सब क्रमसे इस ग्रन्थमें वर्णन करेंगे। इसीको सूचित करनेवाले विशेषण यहाँ दिये गये हैं। (ख) *'दीन पर नेह'* और *'मर्दनमयन'* को एक पंक्तिमें देकर सूचित किया कि कामको जलानेपर रति रोती हुई आयी तो उसकी दीनतापर तरस खाकर उसे आपने वरदान दिया कि *'बिनु बपु ब्यापिहि सबहिं पुनि सुनु निज मिलन प्रसंग।'* (१। ८७)। इस प्रकार *'मर्दनमयन'* पद *'दीन पर नेह'* का और *'उमारमन'* पद *'करुनाअयन'* का बोधक है। (ग) यहाँतक चार सोरठोंमें वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया। अर्थात् इन सोरठोंमें सूक्ष्मरीतिसे आगे जो कथा कहनी है उसका निर्देश किया है। इस तरह कि गणेशजी आदिपूज्य हैं, इससे प्रथम सोरठेमें उनका मङ्गलाचरण किया। यथा—*'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ।'* भगवान् विष्णु, श्रीमन्नारायण और शिवजीका मङ्गलाचरण किया, क्योंकि आगे इस ग्रन्थमें तीनोंकी कथा कहनी है। *'कहों सो मति अनुहारि अब उमा संभुसंबाद।'* (१। ४७) से *'प्रथमहिं मैं कहि सिवचरित बूझा मरमु तुम्हार।'* (१। १०४) तक शिवचरित है फिर उमा-शम्भु-संवाद है, तदन्तर्गत *'द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ।'* (दोहा १२२। ४) से *'एक जनम कर कारन एहा'* (१२४। ३) तक विष्णुसम्बन्धी कथा है और *'नारद श्राप दीन्ह एक बारा'* (१२४ ।५) से *'एक कलप एहिं हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।'* (१३९) तक क्षीरशायी भगवान्-सम्बन्धी कथा है। (घ) पाँचवें सोरठेमें नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया। **'वदि अभिवादनस्तुत्योः'**। उसमें **'बंदउँ'** शब्द आया है जो नमस्कार सूचित करता है। (ङ) इसपर यह प्रश्न होता है कि आगे मङ्गलाचरणका स्वरूप क्यों बदला? स्वरूप बदलकर सूचित करते हैं कि एक प्रकरण चौथे सोरठेपर समाप्त हो गया। आगे श्रीगुरुवन्दनासे दूसरा प्रकरण चलेगा।

नोट—५ यदि 'उमारमण' से यहाँ उमाजी और उमापति शिवजी दोनोंकी वन्दना अभिप्रेत है तो यह शङ्का होती है कि उमाजीमें *'मर्दनमयन'* विशेषण क्योंकर घटेगा?' बाबा जानकीदासजी इसका समाधान यह करते हैं कि शिवजीने तो जब कामदेवको भस्म किया तब *'मर्दनमयन'* कहलाये और श्रीपार्वतीजी तो बिना कामको जलाये अपने अलौकिक और अपूर्व त्यागसे पूर्वहीसे कामको मर्दन किये हुए हैं। इसका प्रमाण बालकाण्डके ८९वें दोहेमें मिलता है। जब सप्तर्षि आपकी परीक्षाके लिये दूसरी बार आपके समीप गये और बोले कि *'अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस।'* तब आपने उत्तर दिया कि *'तुम्हरें जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सबिकारा॥ हमरें जान सदा सिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥ जौं मैं सिव सेए अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी॥''''''।'* (१। ९०) इन वचनोंसे श्रीपार्वतीजीका भी *'मर्दनमयन'* होना प्रत्यक्ष है। मानसमार्तण्डकार लिखते हैं कि जैसे कुन्दसे उमाकी और इन्दुसे शिवजीकी उपमा दी, इसी प्रकार आगे चलकर दो विशेषणोंसे दोनोंको एक रूपमें भूषित किया। *'करुनाअयन'* जगन्माता पार्वतीजीको और *'जाहि दीन पर नेह'* शङ्करजीको कहा।

नोट—६ *'उमारमन'* का अर्थ 'उमा और उमारमण' लेनेकी क्या आवश्यकता जान पड़ी? इसका

कारण हमें एकमात्र यह देख पड़ता है कि भारतमें पञ्चदेवोपासना बहुत कालसे चली आती है। यथा— *'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥'* (२। २७३) इसी आधारपर पं० शिवलाल पाठकजीका मत है कि भाषाके मङ्गलाचरणके पाँच सोरठोंमें पञ्चदेवका मङ्गलाचरण है और श्रीजानकीदासजीका मत है कि यहाँतक चार सोरठोंमें पञ्चदेवोंकी वन्दना है। प्रथम सोरठेमें गणेशजी, दूसरेमें सूर्य, तीसरेमें रमारमण और यहाँ उमा और उमारमणकी वन्दना है। मयंककार दूसरे सोरठेमें विष्णुकी वन्दना मानते हैं, अत: वे पाँचवें सोरठेमें सूर्यकी वन्दनाका भाव मानते हैं। गौरि और त्रिपुरारि (वा, शक्ति और शिव) के बिना पाँचकी पूर्त्ति नहीं हो सकती; अत: दोनोंको 'उमारमण' से इन दोनोंका अर्थ लेना पड़ा। इस पक्षका समर्थन करनेमें कहा जाता है कि उमा शब्द श्लेषात्मक है, अतएव उमा और उमारमणका ग्रहण है; क्योंकि रूपका रूपक दो है, कुन्द और इन्दु। कुन्दके समान उमाजीका शरीर है और इंदुके समान अत्यन्त उज्ज्वल उमारमणका शरीर है। परन्तु इसके उत्तरमें *'कुंद इंदु दर गौर सरीरा।'* (१। १०६) और 'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं''''' (उ० मं० श्लोक) ये दो उदाहरण इसी ग्रन्थके उपस्थित किये जा सकते हैं।

नोट—७ उमारमण और मर्दनमयन ये दोनों विशेषण परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि जो कामको भस्म कर चुका वह स्त्रीमें रमण करनेवाला कैसे कहा जा सकेगा? इन परस्पर विरोधी विशेषणोंको देकर बोधित कराया है कि भगवान्‌का विहार दिव्य और निर्विकार है। यह ब्रह्मानन्दका विषय है। (तु० प० भाष्यसे उद्धृत) गौड़जी कहते हैं कि *'मर्दनमयन'* तो अन्तमें प्रार्थनामात्र है कि मेरे हृदयको निष्काम बना दीजिये। अत: उसमें कोई असङ्गति नहीं है।

प्रथम प्रकरण ('देववन्दना' प्रकरण) समाप्त हुआ।

बंदउँ गुरपदकंज, कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रबि-कर-निकर॥ ५॥

शब्दार्थ—**कंज**=कमल। **महामोह**=भारी मोह। **मोह**=अज्ञान। **तम**=अन्धकार। **पुंज**=समूह। **रबि**=सूर्य। **कर**=किरण। **निकर**=समूह।

अर्थ—१ मैं श्रीगुरुमहाराजके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो कृपाके समुद्र हैं, नररूपमें 'हरि' ही हैं और जिनके वचन महामोहरूपी समूह अन्धकारके (नाशके) लिये सूर्यकिरणके समूह हैं॥ ५॥

नोट—१ *'बंदउँ गुरपदकंज'* इति। (क) श्रीमद्गोस्वामीजीने अपने इस काव्यमें तीन गुरु माने हैं। एक तो श्रीशिवजीको, दूसरे अपने मन्त्रराजोपदेष्टा श्री १०८ नरहरिजी (श्रीनरहर्य्यानन्दजी) को जिनसे उन्होंने वैष्णवपञ्चसंस्कार और श्रीरामचरितमानस पाया और तीसरे श्रीरामचरितको। विशेष मं० श्लोक ३ पृष्ठ १९ प्रश्नोत्तर (४) में लिखा जा चुका है वहाँ देखिये। (ख) इन तीनोंके आश्रित होनेसे इनका काव्य सर्वत्र वन्दनीय हुआ और होगा।

प्रमाण—(१) श्रीशिवजीके आश्रित होनेसे। यथा, *'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससिसमाज मिलि मनहुँ सुराती॥'* (१। १५) (२) निज गुरुके आश्रित होनेसे। यथा—*'तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा। भाषाबद्ध करबि मैं सोई।''''करौं कथा भवसरिता तरनी। बुधबिश्राम सकल जनरंजनि।'''''* (१। ३१), 'वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्। यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥' (मं० श्लोक ३) (३) श्रीरामचरितके आश्रय वा सङ्गसे। यथा—*'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजनमनभावनी।''''प्रिय लागिहि अति सबहि मन भनिति रामजस संग।'* (१। १०) (ग) तीनों गुरुओंका कर्त्तव्य एक ही है, भवसागर पार करना। तीनोंके क्रमसे उदाहरण। यथा—'**गुणागारसंसारपारं नतोऽहं।**' (७। १०८) (शिवजी) *'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।'* (७। ९३) (मन्त्रोपदेष्टा गुरु) *'भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़*

नावा॥' (७।५३) (घ) यहाँ '*नररूपहरि*' कहकर गुरुदेवजीकी वन्दना करनेसे मन्त्रोपदेष्टा तथा श्रीरामचरितमानस पढ़ानेवाले निज गुरु श्रीनरहर्य्यानन्दजीकी वन्दना सूचित की।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी तथा बाबा हरिहरप्रसादजीने '*कृपासिंधु नररूप हरि*.....' को '*पदकंज*' का विशेषण माना है और विनायकीटीकाकारने भी। उसके अनुसार अर्थ यह होगा।—

अर्थ—२ मैं श्रीगुरुमहाराजके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो (चरण) दयाके समुद्र हैं, नर-शरीरके हर लेनेवाले हैं अर्थात् आवागमनके छुड़ानेवाले हैं और सूर्यकिरणसमूह (समान) हैं जिससे महामोहरूपी अन्धकारसमूह 'बच न' (बच नहीं सकता)।

स्मरण रहे कि प्रायः गुरुजनों आदिकी वन्दनामें '*पदकंज*' की ही वन्दना होती है। यथा—'*बंदउँ मुनिपदकंज*', '*बंदउँ बिधिपद रेनु*' इत्यादि। परन्तु वह वन्दना गुरुजनोंकी ही मानी जाती है और विशेषण भी गुरुजनोंके ही होते हैं न कि पदकंजके। पदकंजका विशेषण माननेसे '*जासु*' का अर्थ 'जिससे', '*नररूपहरि*' का अर्थ 'नरशरीर हरनेवाले अथवा नरके समान पद हैं पर वास्तवमें हरि अर्थात् दुःखहर्त्ता हैं' और '*बचन*' का 'बच न' अर्थ करना पड़ता है।

नोट—३ '*कंज*' इति। भगवान्, देवता, मुनि, गुरु तथा गुरुजनोंके सम्बन्धमें कमलवाची शब्दोंकी उपमा प्रायः सर्वत्र दी गयी है। कभी कोमलता, कभी आर्द्रता, कभी विकास, कभी रंग, कभी सुगन्ध, कान्ति और सरसता, कभी उसके दल, कभी माधुरी और कभी आकार आदि धर्मोंको लेकर उपमा दी गयी है। इसलिये कमलके गुणोंको जान लेना आवश्यक है। वे ये हैं। '**कमलं मधुरं वर्ण्यं शीतलं कफपित्तजित्। तृष्णादाहास्त्रविस्फोटविषसर्पविनाशनम्॥**' अर्थात् कमल मधुर, रंगीन, शीतल, कफ और पित्तको दबानेवाला, प्यास, जलन, चेचक तथा विषसर्प आदि रोगोंका नाशक है। (वि० टी०)

नररूप हरिके भाव

'नररूप हरि' से सूचित किया कि—(१) गुरुका नाम लेना निषेध है। (मं० श्लोक ७ पृष्ठ ४५ देखिये)। इसलिये गोस्वामीजीने 'रूप' शब्द बीचमें देकर अपने गुरुकी वन्दना की। आपके गुरु नरहरिजी हैं। यथा—'*अनंतानंद पद परसि के लोकपालसे ते भये। गयेश करमचन्द अल्ह पयहारी॥ सारीरामदास श्रीरङ्ग अवधि गुण महिमा भारी। तिनके नरहरि उदित*' (भक्तमाल छप्पय ३७) छप्पयमें '*तिनके*' से कोई 'अनन्तानन्दजी' का और कोई 'रङ्गजी' का अर्थ करते हैं। पयहारीजीके शिष्य अग्रदेवजी हैं जिनके शिष्य नाभाजी हुए, नाभाजी और गोस्वामीजी समकालीन थे। इससे ये 'नरहरिजी' ही गोस्वामीजीके गुरु सिद्ध होते हैं। श्रीवेणीमाधवदासजीके '*मूलगुसाईंचरित*' से भी श्रीमद्गोस्वामीजीके गुरु श्री १०८ अनन्तानन्द स्वामीजीके ही शिष्य प्रमाणित होते हैं। यथा—'*प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहर्य्यानन्द सुनाम छते॥*' छप्पयके 'नरहरि' ही 'नरहर्य्यानन्द' जी हैं।

(२) गुरु भगवान् ही हैं जो नररूप धारण किये हैं। जैसे मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंहरूप हरि हैं। वैसे ही गुरु नररूप हरि हैं; अर्थात् नर-अवतार हैं। यथा—'**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥**' (गुरुगीता ४३) (श्री पं० रा० कु०) अग्रदासजी कहते हैं कि '*गुरुन बिषे नरबुद्धि शिलासम गनै विष्णुतन। चरणामृत जल जान मंत्र बंदै बानी सम॥ महाप्रसादहिं अन्न, साधुकी जाति पिछानै। ते नर नरकै जाँय वेद स्मृत बखानै। अग्र कहैं यह पाप घट अतिमोटो दुर्घट बिकट। और पाप सब छुटै पै ये न मिटैं हरिनामरट॥*'

(३) (शिष्य के) नररूप (=शरीर) के हरनेवाले हैं अर्थात् आवागमन छुड़ा देते हैं।

(४) 'हरि' इससे कहा कि '**क्लेशं हरतीति हरिः।**' आप जनके पञ्चक्लेश और मोहादिको हरते हैं या यों कहिये कि प्रेमसे मनको हर लेते हैं इससे 'हरि' कहा। (श्रीरूपकलाजी)

(५) 'हरि' का अर्थ 'सूर्य' भी होता है। मानसमयंककारने 'सूर्य' अर्थ लिया है। 'सूर्य' अर्थसे यह भाव निकलता है कि जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करते हैं; उसी प्रकार गुरु शिष्यको उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत्को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं। यथा—'**सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः। गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः॥**' (पद्मपुराण भूमिखण्ड ८५। ८) सूर्य दिनमें प्रकाश करते, चन्द्रमा रात्रिमें प्रकाशित होते और दीपक केवल घरमें प्रकाश करता है; परन्तु गुरु शिष्यके हृदयमें सदा ही प्रकाश फैलाते हैं। वे शिष्यके अज्ञानमय अन्धकारका नाश करते हैं, अतः शिष्योंके लिये गुरु ही सर्वोत्तम तीर्थ हैं। गुरु सूर्य हैं और उनके वचन किरणसमूह हैं।

(६) बैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीके गुरु इतने प्रसिद्ध नहीं थे जैसे कि ये प्रसिद्ध हुए। इसलिये उनका नाम प्रसिद्ध करनेके लिये 'रूप' शब्द नर और हरिके मध्यमें रखकर इस युक्तिसे उनका नाम भी प्रकट कर दिया।

नोट—४ '*कृपासिंधु नररूप हरि*' इति। अर्थमें हमने '*कृपासिन्धु*' को 'गुरु' का विशेषण माना है परन्तु इसको 'हरि' का भी विशेषण मान सकते हैं। अर्थात् दयासागर हरि ही नररूपमें हैं। '*सिंधु*' के सम्बन्धसे एक भाव यह भी निकलता है कि एक हरि क्षीरसिन्धुनिवासी हैं जो नररूप धारण करते हैं और गुरु हरि-कृपारूपी समुद्रके निवासी हैं जो साधनरहित जीवोंका उद्धार करनेके लिये नररूप धारणकर शिष्यका उद्धार करते हैं। मैं सब प्रकार साधनहीन दीन था, मुझपर सानुकूल हो मेरे लिये प्रकट हुए। यथा, '*सो तो जानेउ दीनदयाल हरी। मम हेतु सुसंतको रूप धरी॥*' (मूलगुसाईंचरित) सानुकूलता इससे जानी कि अपने वचनोंसे मेरा महामोह दूर कर दिया। यदि '*हरि*' का अर्थ 'सूर्य' लें तो यह प्रश्न उठता है कि सूर्य और सिन्धुका क्या सम्बन्ध? पं० रामकुमारजी एक खर्रेमें लिखते हैं कि 'सिन्धुमें सूर्यका प्रवेश है और सिन्धुहीसे सूर्य निकलते हैं यह ज्योतिषका मत है।' [ज्योतिषियोंसे परामर्श करनेपर ज्ञात हुआ कि यह मत ज्योतिषका नहीं है। क्योंकि सूर्य तो पृथ्वीसे सहस्रों योजन दूर है और सिन्धु तो पृथ्वीपर ही है। हाँ! ऐसी कल्पना काव्योंमें की हुई मिलती है। यथा— '**विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ। रिपुतिमिरमुदस्यो दीयमानं दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥**' (किरातार्जुनीय १। ४६) श्रीद्रौपदीजी युधिष्ठिरमहाराजसे कह रही हैं कि समयके कारण जिनके प्रकाशका नाश होनेसे जो उदास हो गये हैं तथा जिनके किरण शिथिल हो गये हैं, अगाध समुद्रमें डूबे हुए ऐसे सूर्यको जिस प्रकार दिनके आरम्भमें अन्धकाररूपी शत्रुका नाश करके उदय होनेपर लक्ष्मी, शोभा, तेज और कान्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रारब्धवशात् जिनका प्रताप सङ्कुचित हो गया है और जिनका सब धन, राज्य आदि नष्ट हो गया है तथा जो अगाध विपत्तिरूपी समुद्रमें डूबे हुए हैं शत्रुका नाश करके अभ्युदय करनेवाले आपको राज्यलक्ष्मी प्राप्त हो। इस श्लोककी टीकामें श्रीमल्लीनाथ सूरिजी लिखते हैं कि '**सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जतीत्यागमः**' अर्थात् सूर्य सायङ्काल समुद्रमें डूबता है ऐसा आगम है। सम्भवतः इसी आधारपर पं० रामकुमारजीने यह भाव लिखा हो। पीछे न लिया हो।] जैसे सूर्योदयसे अथवा हरि-अवतारसे जीवोंका कल्याण होता है, वैसे ही गुरुके प्रकट होनेपर ही शिष्यका कल्याण होता है, अन्यथा नहीं। यथा—'*गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥*' (७। ९३)

टिप्पणी—१ '*कृपासिंधु*', '*नररूपहरि*', '*जासु बचन रबिकर निकर*' ये विशेषण क्रमसे देनेका तात्पर्य यह है कि श्रीगुरुदेवजीको हरिका नर-अवतार कहा है। अवतारके लिये प्रथम कारण उपस्थित होता है तब अवतार होता है और अवतार होनेपर लीला होती है। यहाँ ये तीनों (अवतारका कारण, अवतार और लीला) क्रमसे सूचित किये हैं। अवतारका हेतु 'कृपा' है। यथा—'*जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥""तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन*

पीरा॥''''''कृपासिंधु जन हित तन धरहीं।' (१। १२१-१२२); *'भए प्रगट कृपाला''''''* (१। १९२), *'गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनु धारी॥'* (५। ३९) *'कृपासिंधु'* पद देकर *'नररूप हरि'* अर्थात् नर अवतारका कारण कहा। *'नररूप हरि'* कहकर अवतार होना सूचित किया। और *'महामोहतमपुंज जासु बचन रबिकर निकर'* से अवतार होनेपर जो लीला होती है सो कही। अर्थात् श्रीगुरुमहाराज कृपा करके महामोहरूपी अन्धकारसमूहको अपने वचनरूपी किरणसे नाश करते हैं, यह लीला है।

आगे चौपाइयोंमें श्रीगुरुचरणरजसे भवरोगका नाश कहना चाहते हैं। मोह समस्त रोगोंका मूल है। यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥'* (७। १२१) इसलिये पहले यहाँ मोहका नाश कहा गया।

श्रीरामावतार और श्रीगुरु-अवतारका मिलान

श्रीरामचन्द्रजी		श्रीगुरुदेवजी
श्रीरामावतार संत, गो, द्विज आदिकी रक्षा हेतु उनपर कृपा करके रावणवधके लिये हुआ।	१.	श्रीगुरुदेवावतार शिष्यों वा आश्रितोंपर कृपा करने तथा उनके महामोहके नाशके लिये हुआ। महामोह ही रावण है। यथा *'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो है'*। (वि० १८१)
श्रीरामजीने बाणसे रावणका वध किया।	२.	श्रीगुरुजीने वचनरूपी बाणोंसे शिष्यका महामोह दूर किया। वचन बाण हैं। यथा, *'जीभ कमान बचन सर नाना'* (२—४१)
श्रीरामजीके बाणको 'रवि' की उपमा दी गयी है। यथा, *'रामबान रबि उए जानकी'* (५। १६)	३.	श्रीगुरुजीके वचनोंको *'रबिकर निकर'* की उपमा दी गयी।

४.श्रीगुरुदेवावतारमें यह विशेषता है कि जिस रावणको श्रीरामजीने मारा था वह रावण, यद्यपि उसने चराचरको वशमें कर लिया था, पर स्वयं मोहके वश रहा, मोहको न जीत सका था और श्रीगुरुदेवजीने महामोह ऐसे प्रबल शत्रु रावणका नाश किया।

नोट—५ *'महामोह तमपुंज''''''* इति। (क) गीतामें मोहकी उत्पत्ति इस प्रकार बतायी है। **'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥'** (अ० २। ६२-६३) अर्थात् मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन करते रहनेसे विषयोंमें आसक्ति हो जाती है जिससे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है। कामनाकी प्राप्तिमें विघ्न पड़नेसे क्रोध और क्रोधसे 'सम्मोह' होता है जिससे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जानेसे बुद्धि (ज्ञानशक्ति) का नाश होता है। बुद्धिके नाशसे मनुष्य अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है। (ख) निज स्वरूपकी विस्मृति, परस्वरूपकी विस्मृति, देहमें आत्मबुद्धि, निज-पर-बुद्धि, मायिक विषयों, सांसारिक पदार्थों, देहसम्बन्धियोंमें ममत्व और उनमें ही सुख मान लेना इत्यादि 'मोह' है। यह मोह जब दृढ़ हो जाता है, अपनी बुद्धिसे दूर नहीं हो पाता तब उसीको 'विमोह' 'संमोह' 'महामोह' कहते हैं।

नोट—*'महामोह'* इति। ईश्वरके नाम, रूप, चरित्र, धाम, गुण इत्यादिमें संदेह होना *'महामोह'* है। यथा—*'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥'* (७। ५८) इसीको आगे चलकर नारदजीने 'महामोह' कहा है। यथा—*'महामोह उपजा उर तोरें। मिटिहि न बेगि कहें खग मोरें॥'* (७। ५९) पुनः, पार्वतीजीके प्रश्न करनेपर शिवजीने कहा है कि *'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।'* (१। ११४) इसीको आगे चलकर *'महामोह'* कहा है। यथा—*'जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना॥'* (१। ११५)

पूर्व संस्करणमें हमने यह भाव लिखा था, पर पुनर्विचार करनेपर हमें यही मालूम हुआ कि वस्तुतः 'महामोह' शब्द 'भारी मोह' के अर्थमें है। उपर्युक्त दोनों प्रसङ्गोंमें तथा अन्यत्र भी महामोह, मोह, बिमोह, भ्रम आदि शब्द पर्य्यायवाचीकी तरह प्रयुक्त हुए हैं। यथा—*'भयउ मोह बस तुम्हरिहिं नाईं'* (७। ५९), *'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥'* (७। ५९), *'नहि आचरज मोह खगराजा'* (७। ६०), *'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥'* (७। ६१), *'होइहि मोह जनित दुख दूरी।'* (७। ६२), *'एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी॥'* (१। ११४), *'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम।'* (१। ११५), *'ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'* (१। १२०), *'नाथ एक संसउ बड़ मोरें।'''''अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू।'''''जैसे मिटै मोह भ्रम भारी।'''''महामोह महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला।'* (१। ४५, ४६, ४७), *'अस संसय मन भयउ अपारा।'* (१। ५१), *'भएउ मोह सिव कहा न कीन्हा।'* (१। ९८) इत्यादि। गरुड़जीने भुशुण्डीजीसे जो कहा है कि *'मोहि भयउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि।'* (७। ६८) वही *'अति मोह'* यहाँ महामोहका अर्थ है।

'महामोह' शब्द कहीं कोशमें भगवत्-विषयक मोहका ही वाचक नहीं मिलता। एक तो *'महामोह'* शब्द ही कोई स्वतन्त्र शब्द कहीं कोशोंमें नहीं मिलता है और न ऐसा उल्लेख ही मिलता है कि महामोहसे भगवत्-विषयक मोह ही लिया जाता है। इस सोरठेमें बताते हैं कि गुरु भगवत्-सम्बन्धी एवं अन्य वैषयिक (अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि विषयक) सभी प्रकारके दृढ़ मोहके नाशक हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'जासु बचन'* का भाव कि गुरु वस्तुतः वही है जिसका वचन सूर्यकिरणके समान (महामोहान्धकारका नाशक) है और वही भगवान्‌का अवतार है। (ख) *'रबिकर निकर'* का भाव यह है कि किरणें चन्द्रमामें भी हैं पर उनसे अन्धकारका नाश नहीं होता। यथा—*'राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ। सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥'* (७। ७८) अतः *'रबिकर'* कहा, *'निकर'* कहा। क्योंकि सूर्यकिरण हजारों हैं, इसीसे सूर्य 'सहस्रांशु' कहे जाते हैं। यथा, **'पञ्चमस्तु सहस्रांशुः'**। जैसे सूर्यके हजारों किरणें हैं वैसे ही गुरुके वचन अनेक हैं। [(ग) मोह तम है। यथा—*'जीव हृदय तम मोह बिसेषी।'* (१। ११७) उसके नाशके लिये गुरुका एक वचन किरण ही पर्याप्त होता; पर यहाँ 'महामोह' रूपी *'तमपुंज'* है जो एक-दो वचनोंसे नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है। उसके नाशके लिये गुरुके अनेक वचनोंकी आवश्यकता होती है जैसा कि शिवजीके गरुड़जीप्रति कहे हुए वचनोंसे सिद्ध है। यथा—*'मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावौं तोही॥ तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा।'* (७। ६१) अतएव *'तमपुंज'* के सम्बन्धसे *'रबिकर निकर'* कहा गया। (घ) 'गुरुजीके वचनको *'रबिकर निकर'* कहा, तो यहाँ सूर्य और ब्रह्माण्ड क्या हैं?' यह प्रश्न उठाकर दो-एक टीकाकारोंने रूपककी पूर्ति इस प्रकार की है कि ज्ञान सूर्य है। यथा—*'जासु ज्ञानु रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा।'* (२। २७७) मं० श्लोक ३ में गुरुजीको 'बोधमय' कहा है। अर्थात् उनको ज्ञानका ही पुतला वा ज्ञानस्वरूप कहा ही है। तात्पर्य यह कि उनके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश सदा बना रहता है। इस तरह हृदय ब्रह्माण्ड है जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य सदा उदित रहते हैं, कभी उनका अस्त नहीं होता। पं० रामकुमारजीका मत है कि 'हरि' सूर्यको भी कहते हैं अतः गुरु सूर्य भी हैं और उनके वचन सूर्यकिरणसमूह हैं।] (ङ) *'महामोह तमपुंज'* के लिये गुरुवचनोंको *'रबिकर निकर'* कहकर 'गुरु' शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि जो शिष्यके मोहान्धकारको मिटा दे वही 'गुरु' है। यथा—'**गुशब्दस्त्वन्धकारस्यादुकारस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥**' (गुरुगीता) अर्थात् 'गु' शब्दका अर्थ 'अन्धकार' है और 'रु' शब्दका अर्थ है 'उस अन्धकारका नष्ट करना'। मोहान्धकारको दूर करनेसे ही 'गुरु' नाम हुआ।

नोट—६ यहाँ जो *'महामोह तमपुंज·····निकर'* विशेषण दिया गया है यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। **'तम'** शब्द रूपकके वास्ते आया है; **क्योंकि** उधर *'रबिकर निकर'* कहा है, उसीके सम्बन्धसे यहाँ 'अन्धकारका समूह' कहा गया। परंतु 'तम:पुञ्ज' कहनेसे मोहका कारण जो अज्ञान है उसका भी ग्रहण किया जा सकता है। इस तरह भाव यह होता है कि गुरुमहाराज अपने वचनोंसे कारण और कार्य दोनोंका नाश कर देते हैं। क्योंकि यदि कार्य नष्ट हुआ और कारण बना रहा तो फिर भी कार्यकी उत्पत्ति हो सकती है। इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतमें गुरुके लक्षण ये बतलाये हैं कि वह शब्दशास्त्र और अनुभव दोनोंमें पारङ्गत हो। यथा—'**तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥**' (११। ३। २१) अर्थात् उत्तम श्रेय:साधनके जिज्ञासुको चाहिये कि वह ऐसे गुरुकी शरण जाय जो शब्दब्रह्म (वेद) में निष्णात, अनुभवी और शान्त हो। श्रुति भी ऐसा ही कहती है। यथा—'**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥**' (मुण्डक १। २। १२) उपनिषद्‌में जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ कहा है उसीको भागवतमें '**शाब्दे**' और '**परे निष्णातम्**' कहा है। दोनों गुणोंका होना आवश्यक है। केवल श्रोत्रिय हुआ, अनुभवी न हुआ तो वह गुरु होनेयोग्य नहीं; क्योंकि केवल वाक्-ज्ञानमें निपुण होनेसे महामोहको न हटा सकेगा। और केवल अनुभवी होगा तो वह समझा न सकेगा; जब शिष्य समझेगा ही नहीं, तब महामोह कैसे निवृत्त होगा? इसीसे तो कहा है कि '**शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि। श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥**' (भा० ११। ११। १८) अर्थात् जो शब्दब्रह्म (वेद) का पारङ्गत होकर ब्रह्मनिष्ठ न हुआ अर्थात् जिसने ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर लिया, उसे दुग्धहीना गौको पालनेवालेके समान वेदपठनके श्रमके फलमें केवल परिश्रम ही हाथ लगता है। जान पड़ता है कि *'महामोह तमपुंज·····'* ये विशेषण इन्हीं भावोंको लेकर लिखे गये हैं। बिना ऐसे गुरुके दूसरेके वचनसे महामोह नष्ट नहीं हो सकता।

नोट—७ 'यहाँ भाषामें गुरुवन्दना किस प्रयोजनसे की गयी?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया जाता है कि श्लोकमें बोध और विश्वासके निमित्त वन्दना की थी और यहाँ 'महामोह' दूर करनेके लिये की है। श्लोकमें गुरुको शङ्कररूप अर्थात् कल्याणकर्त्ताका रूप कहा और यहाँ हरिरूप कहा। ऐसा करके जनाया कि गुरु सम्पूर्ण कल्याणोंके कर्त्ता हैं और जन्म-मरणादिको भी हर लेनेवाले हैं। पुनः एक बार शङ्कररूप और दूसरी बार हरिरूप कहनेका कारण यह भी है कि गुरु तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनोंके रूप माने गये हैं। यथा—'**गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।**' यहाँ शङ्का हो सकती है कि हरि और हररूप मानकर वन्दना की, ब्रह्मारूप मानकर भी तो वन्दना करनी चाहिये थी? इसका समाधान यह है कि ब्रह्माजीकी प्रतिष्ठा, पूजा आदि वर्जित हैं, इससे 'विधिरूप' न कहा। उनकी पूजा क्यों नहीं होती? यह विषय *'बंदउँ बिधिपदरेनु·····'* (१। १४) में लिखा गया है। प्रमाणका एक श्लोक यहाँ दिया जाता है। यथा—'**तदा नभो गता वाणी ब्रह्माणं च शशाप वै। मृषोक्तं च त्वया मंद किमर्थं बालिशेन हि॥ ·····तस्माद् यूयं न पूज्याश्च भवेयुः क्लेशभागिनः।**' (शिवपुराण माहेश्वरखण्डान्तर्गत केदारखण्ड अ० ६। ६४)

भाषा-मङ्गलाचरण पाँच सोरठोंमें करनेके भाव

पाँच सोरठोंसे पञ्चदेव 'गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव और गौरि (=शक्ति)' की वन्दना की गयी है। यथा—*'बहुरि सोरठा पाँच कहि सुन्दर मधुर सुलोन। पंच देवता बंदेऊ जाहि ग्रन्थ सुभ होय॥'* (गणपति उपाध्याय)। यही मत और भी कई महानुभावोंका है।

इसमें कोई टीकाकार फिर यह शङ्का उठाकर कि 'पाँचवें सोरठेमें तो गुरुकी वन्दना है तब पञ्चदेवकी वन्दना पाँचों सोरठोंमें कैसे कहते हैं?' उसका समाधान यह करते हैं कि गुरु हरिरूप हैं और मं०

श्लोक ३ में उनको शङ्कररूप भी कहा है। पुनः, हरि सूर्यको भी कहते हैं। तीनों प्रकार वे पञ्चदेवमें आ जाते हैं।

पं० शिवलाल पाठकजीके मतानुसार दूसरे सोरठेमें विष्णुकी वन्दना है और पाँचवेंमें सूर्यकी। वे लिखते हैं कि 'अपने प्रयोजनयोग्य सूर्यमें कोई गुण न देखकर गुरुहीकी सूर्यवत् वन्दना की, क्योंकि सूर्यमें तमनाशक शक्ति है वैसे ही गुरुमें अज्ञानतमनाशक शक्ति है और ग्रन्थकारको अज्ञानतम-नाशका प्रयोजन है। अतः गुरुकी सूर्यवत् वन्दना की गयी है, जिससे पञ्चदेवकी भी वन्दना हो गयी और अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो गया' (मानस-अभिप्रायदीपक)।

बाबा जानकीदासजीके मतानुसार प्रथम चार सोरठोंमें पञ्चदेवकी वन्दना है। सोरठा ४ पर देववन्दनाका प्रकरण समाप्त हो गया।

नोट—८ प्रायः सभी प्राचीन पोथियोंमें *'नररूप हरि'* ही पाठ मिलता है, पर आधुनिक कुछ छपी हुई प्रतियोंमें *'नररूप हर'* पाठ लोगोंने दिया है। श्री १०८ गुरुमहाराज सीतारामशरणभगवानप्रसादजी (श्रीरूपकलाजी) श्रीमुखसे कहा करते थे कि पं० रामकुमारजी *'हर'* पाठ उत्तम मानते थे, क्योंकि *'हर'* और *'निकर'* में वृत्यानुप्रास है। ऊपरके सोरठोंमें अनुप्रासका क्रम चला आ रहा है वही क्रम यहाँ भी है।

श्रावणकुञ्जकी पोथीका पाठ देखनेके पश्चात् वे *'हरि'* पाठ करने लगे थे।

चौ०—बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥ १॥

शब्दार्थ—**पदुम (पद्म)**=कमल। **परागा (पराग)**=(कमलके सम्बन्धमें) वह रज या धूलि जो फूलोंके बीच लम्बे केसरोंपर जमा रहती है। =पुष्परज। इसी परागके फूलोंके बीचके गर्भकोशोंमें पड़नेसे गर्भाधान होता है और बीज पड़ते हैं।=(गुरुपदके सम्बन्धसे) तलवेमें लगी हुई धूलि=रज। **सुरुचि**=सुन्दर, **रुचि**=दीप्ति, कान्ति वा चमक।=(प्राप्तिकी) इच्छा; चाह, प्रवृत्ति। यथा—*'रुचि जागत सोवत सपने की'* (२। ३०१) =स्वाद; यथा—*'तब तहँ कहिं सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥'* (विनय० १६४) **सुबास**=सुन्दर वास। वास=सुगन्ध।=वासना, कामना, **सरस**=(स+रस)=रससहित।=सुरस। 'स' उपसर्ग 'सहित' अर्थ देता है और 'सु' के स्थानपर भी आता है जैसे **सपूत**=सुपूत। **सरस**=सरसता है, बढ़ता है। **सरस**=सुन्दर। **सरस अनुरागा**=अनुराग सुन्दर रस है।=अनुराग करके सरस है।=अनुराग रसयुक्त।=सुन्दर **अनुराग**=अनुराग सरसता है। पुनः **सरस**=सम्यक् प्रकारका रस। (मा० प्र०)

इस अर्धालीका अर्थ अनेक प्रकारसे टीकाकारोंने किया है। अर्थमें बहुत मतभेद है। प्रायः सभी अर्थ टिप्पणियोंसहित यहाँ दिये जाते हैं।

अर्थ—१ मैं श्रीगुरुचरणकमलके परागकी वन्दना करता हूँ, जिस (पराग) में सुन्दर रुचि, उत्तम वास (सुगन्ध) और श्रेष्ठ अनुराग है।

नोट—१ यह अर्थ श्रीपंजाबीजी और बाबा जानकीदासजीने दिया है। केवल भावोंमें दोनोंके अन्तर है। (क) पंजाबीजीका मत है कि उत्तम रुचि अर्थात् श्रद्धा, उत्तम वासना और श्रेष्ठ प्रेम—ये तीनों श्रीगुरुपदकमलके रजमें रहते हैं। जो मधुकरसरिस शिष्य कमलपरागमें प्रेम करनेवाले हैं, पदरजका स्पर्श करते हैं, उन्हें ये तीनों प्राप्त होते हैं और जो श्रीगुरुपदरजके प्रेमी नहीं हैं उनको नहीं मिल सकते। (ख) बाबा जानकीदासजी (मानसपरिचारिकाकार) लिखते हैं कि सोरठा ५ में पदकमलकी वन्दना की; तब यह सोचे कि श्रीगुरुपदको कमलकी उपमा क्या कहें, पदकमलमें कमलके धर्म क्या कहें, जब कि उस धूलिहीमें कमलके धर्म आ गये जो कहींसे श्रीगुरुपदमें लपट गयी है। ऐसा सोच-समझकर पदरजमें कमलके धर्म दिखाये। (ग) धर्म किसे कहते हैं? गुण, स्वभाव और क्रिया तीनोंका मेल 'धर्म' कहलाता